॥ अर्हम् ॥

श्रीमद्विजयधर्मसूरिभ्योनमः ।

* उपोद्घात *

इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं है कि-आत्महित और परहित साधन करने वाले शुद्धचरित्रवान् महापुरुषों के जीवनचरित्र के अध्ययन से मनुष्यजाति को जितना लाभ हुआ है और हो सकता है, उतना किसी अन्य साधन से नहीं होसकता ।

जीवनचरित्र मोहान्धकार में पड़े हुए लोगों को ज्ञान प्रकाश में लाने वाली एक अपूर्व वस्तु है। जीवनचरित्र आन्तरिक सद्गुण रूप स्वच्छता और दुर्गणरूप मलीनता दिखाने वाला अद्भुत दर्पण हैं । संसार में जितने शिष्ट पुरुष हुए हैं, सबने अपने सामने किसी आदर्श पुरुष का जीवन चरित्र ही रख कर उन्नति के मार्ग में प्रवेश किया है। यह बात स्वाभाविक और अनिर्वार्य है। विना किसी आदर्श के मनुष्य कुछ कर नहीं सकता। मनुष्य का आचरण आदर्श के अनुसार ही होता है। ऐसे अवसर में महा पुरुषों की जीवनी सर्व साधारण मनुष्यों के चरित्र सुधारने में कहाँ तक उपयोगी होसकती है ? इस बात को सहृदय पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं।

इस पुस्तक में वर्णित चरित्र नायकों के आचरण से मनुष्यमात्र असीम लाभ उठा सकते हैं। यह सब के मननयोग्य रहस्य है। मुख्य तथा जगद्गुरु श्रीहीरविजयसूरि, श्रीविजयसेनसूरि तथा श्रीविजयदेवसूरि-इन तीन महात्माओं के पवित्र चरित्रों से यह ग्रंथ गुंफित है। ये महात्मा विक्रमीय सोलहवीं और सतरहवीं शताब्दियों में हुए हैं। बालपन में विरक्त होकर दीक्षा के उपरान्त हमारे तीनों चरित्र नायकों ने शासन उन्नति के लिये कितना घोर प्रयत्न किया था-उनका शासन

प्रेम कितना दृढ़ और प्रगाढ़ था—सम्राट् अकवर जैसे नरपालों को प्रतिबोध करने में कितने साहस और उत्कर्ष का उन महानुभावों ने परिचय दिया था, एवं उस यवनराज्यतत्वकाल में स्वधर्मरक्षा के लिए यह लोग कैसे उद्यत थे यह सब बातें सूक्ष्मतया इस ग्रन्थ में निगदित है। सुतरां यह भी ज्ञात होगा कि–वे महानुभाव ऐसे धुरंधर आचार्य होने पर भी तप-जप-संयम-त्याग वैराग्य में कैसे सुदृढ़ थे? । पुनः इस पुस्तक के अवलोकन से ऐतिहासिक विषय के भी बहुत संदिग्ध रहस्यों का पता लग सकेगा।

इस पुस्तक को मैंने 'श्रीविजयप्रशस्ति' नामक महाकाव्य के आधार पर निर्मित किया है। और कतिपय अन्य पुस्तकों से भी सहायता ली है। तिस पर भी यदि किसी अशुद्धि को कोई पाठक सप्रमाण सूचित करेंगे तो मैं द्वितीयावृत्ति में उसे सहर्ष सुधारने की चेष्टा करूंगा।

इस ग्रंथ के निर्माण करने में मेरे सुयोग्य ज्येष्ठ बन्धु, न्याय शास्त्र के धुरंधर विद्वान् महाराज श्रीवल्लभविजय जीने बहुत सहायता प्रदानकी है अतएव मैं आपका अनुगृहीत हूँ।

यद्यपि मेरी मातृभाषा गुजराती है, तथापि इस पुस्तक को मैंने हिन्दी में लिखने का साहस किया है। अत एव इसमें भाषा संबन्धी अशुद्धियाँ का बाहुल्य होना सम्भव है। आशा है कि पाठकवृन्द उन अशुद्धियाँ की ओर दृष्टिपात न करके पुस्तक के सारही को ग्रहण करेंगे।

कार्तिकी पूर्णिमा
वीर सम्वत् २४३९
ता० २४-११-१२

कर्त्ता

अर्हम्

श्रीमद्विजयधर्मसूरिभ्यो नमः

' विजयप्रशस्तिसार '

---

* पहला प्रकरण *

(विजयसेन सूरिका जन्म और ' कमा ' शेठकी दीक्षा)

जिस समय मेदपाट (मेवाड) देश, कर्णाट-लाट—विराट—घन-घाट-सौराष्ट्र—महाराष्ट्र—गौड़ चौड़ चीन वत्स मत्स्य-कच्छ—काशी-कोशल—कुरु अंग-बंग-चंग और मरु आदि देशों में सबसे बढ़ कर प्रधान गिना जाता था, जिस समय उसकी भूमि रस पूर्ण थी, जिस समय उस देश के समस्त लोग ऋद्धि समृद्धि से कुबेरकी स्पर्द्धा कर रहे थे और जिस समय वहां के निवासी (रंक से लेकर राय पर्यन्त) नीति-धर्म का सम्यक्प्रकार से पालन कर रहे थे, उस समय, एकरोज आकाश में भ्रमण करते हुए और नानाप्रकार की भूमि को देखने की इच्छा से ' नारद ' मुनि इस मेदपाट(मेवाड़)देश में आए। इस देश की उन्नति और स्वाभाविक सरलता से आप अधिक प्रसन्न हुए और आपने इस विशाल प्रदेश में कुछ काल तक निवास भी किया। क्योंकि वहाँ आपके नाम से एक नगर बस गया जिसका नाम ' नारद पुरी ' पड़ा।

इस अलौकिक नारद पुरी का यथार्थ वर्णन होना कठिन है। क्या यह लेखनी इस कार्य को अच्छी तरह कर सकती है ? कभी नहीं।

इस नारद पुरी के पास एक पर्वत के शिखर पर श्रीप्रद्युम्नकुमार ने श्रीनेमीनाथ भगवान् का एक चैत्य (मन्दिर) बनवाया। और उन्हों ने इस मन्दिर में बहुत ही मनोहर और नेत्रों को आनन्द देनेवाली श्रीनेमीनाथ भगवान् की प्रतिमा स्थापित की। प्रद्युम्नकुमार इस भगवान् के ध्यान को अपने अन्तःकरण से दूर नहीं करते थे और अहर्निशि धर्म भावना में समय का सदुपयोग करते थे।

इस नारद पुरी में एक 'कमा' नाम के शेठ रहते थे। उनकी 'कोडीमदेवी' नामकी एक धर्मपत्नी थी। इन दोनों की देव में देवबुद्धि, गुरु में गुरुबुद्धि और धर्म पर भी पूर्ण श्रद्धा थी। अर्थात् यह दोनों सम्यक्त युक्त थे। क्योंकि श्रीहेमचन्द्राचार्य प्रभु कहते हैं कि —

या देवे देवता बुद्धि र्गुरौ च गुरुतामतिः।
धर्मे च धर्मधिः शुद्धा सम्यक्त्वमिदमुच्यते ॥१॥

इन दोनों की श्रीजिनेश्वर में परम भक्ति और साधुजनों में परम प्रीति थी। मन, वचन, कायासे यह दोनों धर्म प्रचार के वीर रूपही होरहे थे। औदार्य, शौर्य गांभिर्यादि उत्तमोत्तम गुण तो मानो इनके दास होकर रहते थे। इस दम्पती के पुत्र सुखका सौभाग्य नहीं प्राप्त था और इस कारण यह बड़े दुःखी रहते थे। किन्तु दोनों मोक्ष के अभिलाषी होने से अपने द्रव्य को*सात क्षेत्रों में खर्चते थे और क्लिष्ट कर्मों को क्षय करने वाले तपमें लवलीन रहते थे। और यह दोनों सर्वदा बड़ी श्रद्धा पूर्वक पञ्चपरमेष्ठी मंत्र का ध्यान करते थे।

एक समय की बात है कि कोडीम देवी नित्य नियमानुसार एक रोज पञ्चपरमेष्ठी का ध्यान करती हुई निद्रा के आधीन हो गई। इस देवी ने रात्रि में एक स्वप्न देखा। क्या देखती है कि

* साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, जिनभवन, बिम्ब और ज्ञान

एक बड़ा भारी सिंह, सामने खड़ा है जो कि हस्तिओं के त्रास का निदान भूत गर्जना को करता है, जिसका रंग सर्वदा सफेद है। जिसने अपना मुंह निकासा है। जिसका बड़ा भारी पूंछ गोलाकार हुआ है। इस प्रकार के स्वप्न को सम्यक्प्रकार से देखती हुई आनंद से भरी हुई कोडीम देवीने निद्रा को त्यागा। प्रातःकाल उठ कर उसने अपने पति को नमस्कार करके रात्रिमें देखा हुआ स्वप्न निवेदन किया। क्योंकि पतिव्रता—सती स्त्री के लिये तो स्वप्न अपने पति को ही कहने योग्य हैं।

'कमा' शेठ ने इस उत्तम स्वप्न का फल बड़े बिचार पूर्वक कहा कि—" हे प्रिये ! इस उत्तम स्वप्न के फल में तुझे पुत्रोत्पत्ति हो-गी। " बस ! इस कथन को सुनती हुई कोडीम देवी अतीव आनंद में निमग्न होगई। बस उसी रोज से देवीने गर्भको धारण किया। जब उत्तम जीवका जन्म होने वाला होता है तब माता को उत्तमो-त्तम दोहद (गर्भ लक्षण) उत्पन्न होते हैं। इस गर्भ को धारण करने के बाद कोडीम देवी को भी उत्तमोत्तम दोहद उत्पन्न होने लगे। जैसा कि उसके चित्त में इस बातकी बलवती इच्छा हुई कि मै गरीब लोगों को दान दूँ। जिनेश्वर भगवान्की पूजा करूं। मुनिराज के द्वारा भगवानकी वाणी का पान करूं। पवित्र मुनिराजों को दान दूँ। श्रीसंघमें स्वामी वात्सल्य करूं। तीर्थ यात्रा करूं, इत्यादि। कमा शेठ ने विपुल द्रव्य से अपनी शक्त्यनुसार इन इच्छाओं को पूर्ण किया। देवी भी गर्भवती स्त्री के योग्य कार्यों को करती हुई जिसमें किसी प्रकार से भी गर्भ को तकलीफ न होवे उसी प्रकार यत्न पूर्वक रहने लगी।

दिन—प्रतिदिन गर्भ बढ़ने लगा। अनुक्रमे कोडीम देवी ने वि-विक्रम संवत् १६०४ मिती फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा के दिन उत्तम

लक्षणोपेत पुत्रको जन्म दिया । इस बालक के मुख पर सूर्यके समान तेज चमकता था । सूति का गृह इन्हीं बालक के तेज से देदिप्यमान हो रहा था । कमा शेठ के कुल में—मित्र मण्डल में असीम आनंद छा गया । शेठने बड़ा भारी जन्मोत्सव किया । अपने नगर के सैकड़ो याचक धनी कर दिये और वहां के राजा उदयसिंह से प्रार्थना करके या द्रव्य से जिस प्रकार होसका बहुत से कैदी कारागार से छुड़वा दिये ।

बालक दिन—प्रतिदिन बढ़ने लगा । सब लोग इसको देखकर आनंद में निमग्न होजाने लगे । जगत् के इस नये अतिथि के उत्तमोत्तम लक्षण और चेष्टाएं देख कर सामुद्रिक शास्त्री लोग कहने लगे कि—'यह बालक इस भूमंडल में जीवों को मोक्ष मार्ग को दिखाने वाला एक धर्म गुरु होगा' । पुत्र को उत्तम लक्षणों से विभूषित देख कर उसका नाम 'जयसिंह' रक्खा गया । अत्यन्त आश्चर्य को करने वाली प्रतिभा वाला यह बालक दिन पर दिन बढ़ने लगा । जयसिंह के उत्पन्न होने के बाद इस गांव की उन्नति अपूर्व ही रूप में होने लगी । अतएव यह बालक सारे नगर को प्रिय हुआ । यह 'जयसिंह' बालक जब पढ़ने के लायक हुआ, तब माता पिताने इस को शुभ मुहूर्त में बड़े महोत्सव पूर्वक पाठशाला में बैठाया । बुद्धिमान 'जयसिंह' बुद्धि के आधिक्य से उत्तरोत्तर अपूर्व विद्याओं की शिक्षा ग्रहण करता हुआ आगे बढ़ा । जब वह अपने अध्यापक से थोड़े समय में सम्पूर्ण विद्याओं को ग्रहण कर चुका तब उनके माता—पिता ने जयसिंह के विद्या गुरुका द्रव्यादिक से बहुत सत्कार किया ।

प्रिय पाठक ! देखिये क्या होता है ? जयसिंह अभी तो बाल्यावस्था में ही है । माता पिता की सेवा-भक्ति कुछ भी नहीं की है ।

पिता को एक पुत्र की लालशा थी, वह संपूर्ण पुरी होगई है। पिताने अभी तो पुत्रका सुख कुछ भी नहीं लिया है। केवल उस के मुखचन्द्र का दर्शन मात्र किया है। ऐसी अवस्था में 'कमा' सेठ क्या सोचते हैं? "मुझे एक पुत्र की इच्छा थी सो धर्म के प्रसाद से पूर्ण हुई है। पुत्र अवस्था के लायक होने आया है। अब मैं इस असार संसार को त्याग करके मोक्ष को देने वाली दीक्षा को ग्रहण करूं" देखिये! पाठक! कैसी संतोष वृत्ति है? उत्तम जीवों के तो यही लक्षण हैं?सेठ को इस असार संसार से विरक्तभाव पैदा हुआ।

एक दिन की वात है—'कमा' सेठ ने वड़ी गंभीरता के साथ अपनी धर्म पत्नी से कहा कि—"हे प्रिये! हे भार्ये! तुम्हें एक पुत्र हुआ है, अब तुम संतोष वृत्ति को धारण करो। मैं अब तुम्हारी अनुमति से तपगच्छनायक गुरुवर्य श्रीविजयदानसूरीश्वर के पास-दीक्षा ग्रहण करूंगा।" पति के यह वचन कोडीमदेवी को तड़ित पात समान लगे। इन बचनों को सुनकर सतीओं में शेखर समान कोडीमदेवी बोली कि—"हे स्वामिन्! हे ईश! जैसे विना चन्द्रमा की रात्रि सुख दायक हो नहीं सकती है, वैसे आपके विना अज्ञान में रही हुई मैं क्या करूंगी? मेरी क्या गति होगी? सतीओं को माता शरण नहीं है। पिता शरण नहीं है। पुत्र शरण नहीं है। और भाई भी शरण नहीं। किन्तु सतीओं के लिये तो एक पति ही शरण है। अतएव हे स्वामिन्! आप के साथ में हमारा भी मनुष्य जन्म का फल, तपस्या का आचरण ही होना उचित है। अर्थात यह प्राण प्रिय 'जयसिंह' बालक के साथ में भी आपके प्रसाद से आपके साथ में तपस्या और व्रत अंगीकार करूंगी"।

इस प्रकार के विलाप युक्त वचनों को सुन करके सेठ ने कहा कि "हे भार्ये! जैसे सर्प कंचुकी को छोड़ देता है वैसे ही मै भी

गार्हस्थ्य को त्यागना चाहता हूं । इतना ही नहीं किन्तु यह विचार मेरा निश्चित है । हे प्राण प्रिये ! यह जयसिंह अभी बालक है, अत एव तू इसकी रक्षा कर और इसके साथमें तू घर में रह । जब यह बालक बड़ा होजाय तब तुझे दीक्षा ग्रहण करनी हो तो करना । अभी तेरे लिये यह अनुचित बात है ।

ऐसे वाक्यों के समझाने पर कोडीमदेवी ने अपने पतिको दीक्षा लेने की आज्ञा दी । इस समय में तपगच्छनायक श्री विजयदानसूरि जी स्तम्भ तीर्थ में बिराजमान थे । अब ' कमा ' शेठ दीक्षा लेने के इरादे से नारदपुरी से शुभ मुहूर्त में रवाना होकर थोड़े दिनों में स्तम्भ तीर्थ गए । वहां आकर आचार्य महाराज से प्रार्थना की कि " हे प्रभो ! हे भट्टारक पूज्यपादा ! दीक्षादान से मुझे अनुग्रह करिये ! " तदनन्तर आचार्य श्रीविजयदानसूरीश्वर ने संवत १६११ की साल में शुभ दिवस में इनको दीक्षा दी । अब कमा श्रेष्ठी 'मुनि' हुए । खड्ग की धार की तरह चारित्र को पालना करने लगे । धर्म के मूल भूत विनय का सेवन करने लगे । और हृष्ठ मन से पूर्व ऋषियों के सदृश ' साधु ' धर्म का पालन करते हुए विचरने लगे ।

एक दिन अपने भगिनीपति ' कमा ' श्रेष्ठी ने ' दीक्षा ग्रहण की है ' ऐसा सुन करके पल्लीपुर (पाली) नगर से ' श्रीजयत ' नामके संघपति कोडीमदेवी को मिलने के लिये ' नारदपुरी ' आए वहांपर कुछ रोज रहकर जयसिंह और उनकी माता कोडीमदेवी को वह श्रेष्ठी अपने घरपर लाए । मेरु की गुफा में जैसे कल्पवृक्ष और पर्वत की गुफा में जैसे केशरी सिंह निर्भय होकर रहता है, उसी तरह इस पल्लीपुर (पाली) नगर में ' जयसिंह कुमार ' अपनी माता के साथ अत्यन्त हर्षित हो रहने लगे और नगर निवासियों को आनन्द देकर समय व्यतीत करने लगे ।

अब इस प्रकरण को यहां छोड़ करके दूसरे प्रकरण में प्रसंगानुसार श्रीमहावीर स्वामी की पाट परंपरा दिखाकर, आगे फिर इसी बार्ता का विवेचन किया जायगा ।

———:———

दूसरा प्रकरण ।

———:*:———

(श्रीसुधर्मास्वामी से लेकर श्रीविजयदानसूरिपर्यन्त पाटपरंपरा और श्रीतपगच्छकी उत्पत्ति इत्यादि ।)

प्रिय पाठक ! भगवान् श्रीमहावीर देव की पाट पर पहले पहल गणको धारण करने वाले, अहिंसा,सत्य,अस्तेय, ब्रह्म और अकिंचन रूप पांच महाव्रतों को प्रगट करने और पालन करने वाले श्रीसुधर्मा स्वामी हुए । तदनन्तर 'श्रीजम्बूस्वामी' हुए । इसके बाद प्रथम श्रुतकेवली 'श्रीप्रभवस्वामी' हुए । प्रभवस्वामी के बाद 'श्रीसय्यम्भवसूरि' हुए । जिन सय्यम्भवसूरिके गृहस्थावस्था में 'श्रीशांतिनाथ भगवान् की प्रतिमा से मिथ्यात्वरूपी अन्धकार दूर होगया । इस पाट पर 'श्रीयशोभद्रसूरि' हुए । तदनन्तर 'श्रीसम्भूतिविजय आचार्य' और उवसग्गहरस्तोत्रसे मरकीकी व्याधि को दूर करने वाले 'श्रीभद्रबाहुस्वामी' हुए । यह दोनों गुरुभाई थे । इन्हों में श्रीसम्भूतिविजय पट्टधर जानना चाहिये । श्रीभद्रबाहुस्वामी गच्छ की सार-सँभाल करने वाले थे, अतएव दोनों के नाम पाट पर लिखे जाते हैं । इन दोनों के पाट पर अन्तिम श्रुतकेवली 'श्रीस्थुलीभद्र' हुए । श्रीस्थूलिभद्र स्वामी के बाद इनके मुख्य शिष्य आर्यमहागिरी और श्रीआर्यसुहास्ति के नामके दो प्रतिभाशाली पुरुष आठवीं पाट पर हुए । आठवीं पाट पर इन दोनों के होने के

वाद 'सुस्थित' और 'सुप्रतिबुद्ध' इस नामके दो आचार्य हुए। इन दोनों के द्वारा 'कौटिक' नामका गच्छ चला। क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि इन्हों ने एक कोटि वार सूरिमंत्र का स्मरण किया था। यहां पर यह विचारणीय वात है कि श्रीहेमचन्द्राचार्य तो 'सुस्थित सुप्रतिबुद्ध' ऐसा अखंडित नाम वाले एक ही मुनिको मानते हैं। क्योंकि श्रीहेमचन्द्राचार्य प्रभुने अपने त्रिपष्ठिशलाका पुरुष चरित्र की प्रशस्ति में लिखा है कि:———

अजनि 'सुस्थितसुप्रतिबुद्ध' इत्यभिधयाऽऽर्यसुहस्तिमहामुनेः ।
शमधनो दशपूर्वधरोऽन्तिपद् भवमहातरुभञ्जनकुञ्जरः ॥१॥

अब गुर्वावली में तो दो अलग २ सूरि कहे हुए हैं। 'विजयप्रशस्ति' ग्रन्थकारने भी तदनुसार दो पृथक् नाम गिनाए है। इन कोटिक गच्छमें क्रमसे 'श्रीइन्द्रदिन्नसूरि' 'श्रीदिन्नसूरि' और 'श्रीसिंहगिरि' होने पर दशपूर्व धर 'श्रीवज्रस्वामी नाम के आचार्य तेरहमी पाटपर हुए। इस वज्रस्वामीने वाल्यावस्थामें ही आचाराङ्गादि ग्यारह अंगों को निर्दम्भ हो के, पारिणामिकी बुद्धि से और पदानुसारिणी लब्धि करके कण्ठाग्र किये थे। श्रीवज्र स्वामी की ख्याति से इस जगत् में वज्र शाखा प्रसिद्ध हुई। इस वज्र शाखा की कीर्ति अद्यावधि लोगों में विद्यमान है। वज्रस्वामी के शिष्यों में मुख्य शिष्य 'श्रीवज्रसेन' गच्छ के नायक हुए। इन 'श्रीवज्रसेन' सूरि को 'नागेन्द्र', 'चन्द्र', 'निवृत्ति', और 'विद्याधर' नाम के चार शिष्य थे। इन चारों के नाम से चार कुल उत्पन्न हुए। जैसे कि— नागेन्द्रकुल, चान्द्रकुल, निवृत्तिकुल और विद्याधर कुल। इन चार कुलों में भी चान्द्रकुल जगत में बहुत प्रसिद्ध है। इस चान्द्रकुल के उत्पादक श्रीचन्द्राचार्य से अनुक्रम करके 'श्रीसामन्तभद्र सूरि', 'श्रीवृद्धदेवसूरि', 'श्रीप्रद्योतनसूरि', 'श्रीमान देवसूरि', श्रीमानतु-

न्द्रसूरि', 'श्रीवीरसूरि', 'श्रीजयदेवसूरि', 'श्रीदेवानन्दसूरि', 'श्री-विक्रमसूरि', 'श्रीनरसिंह सूरि', 'श्रीसमुद्रसूरि', 'श्रीमानदेवसूरि', 'श्रीविबुधप्रभसूरि', 'श्रीजयानन्दसूरि', 'श्रीरविप्रभसूरि', 'श्री-यशोदेवसूरि', 'श्रीप्रद्युम्नसूरि', 'श्रीमानदेवसूरि', 'श्रीविमल-चन्द्रसूरि', 'श्रीउद्योतनसूरि', 'श्रीसर्वदेवसूरि', 'श्रीदेवसूरि', 'श्रीसर्वदेवसूरि', 'श्रीयशोभद्रसूरि', 'श्रीनेमिचन्द्रसूरि', 'श्री-मुनिचन्द्रसूरि', 'श्रीअजीतदेवसूरि', और 'श्रीविजयसिंहसूरि' महो-दयों के होने के बाद प्रारंभ से तेंतालीसमी पाटपर एकही गुरु के शिष्य श्रीसोमप्रभसूरि और श्रीमणिरत्नसूरीश्वर हुए। तदन्तर इस पाटधर चान्द्रकुल रूपी समुद्र में चन्द्र समान श्रीजगच्चन्द्रमुनी-श्वर हुए।

श्रीजगच्चन्द्रसूरीश्वर ने बारह वर्ष पर्यन्त आयंबिल तप की आ-राधना की। इस तप के प्रताप से पृथीपर कलंक नाश हुआ अर्थात् वह "तपा" ऐसी ख्याति संसार में प्रगट हुई। संवत१२८५ के साल से श्रीजगच्चन्द्रसुरि से इस जगत में 'तपगच्छ' की प्रसिद्धी हुई। इस तपागच्छ से बढ़कर अन्यत्र सम्यक्चरण-करण-समाचारी रूप क्रिया हैही नहीं। अब इस चवालीसमी पाटपर हुए जगच्चन्द्रसूरिसे अनुक्रमेण 'श्रीदेवेन्द्रसूरि,' 'श्रीधर्मघोषसूरि,' 'श्रीसोमप्रभसूरि,' 'श्रीसोमतिलकसूरि,' 'श्रीदेवसुन्दरसूरि,' 'श्रीसोमसुन्दरसूरि,' 'श्रीमुनिसुन्दरसूरि,' 'श्रीरत्नशेखरसूरि,' 'श्रीलक्ष्मीसागरसूरि,' 'श्रीसुमतिसाधुसूरि,' महोदयों के होने के बाद पचपनवीं पाटपर सू-रीश्वरों में श्रेष्ठ 'श्रीहेमविमलसूरि' हुए। और इनकी पाटरूप कुंभप्र-देशमें 'श्रीआनंदविमलसूरि' विराजमान हुए। यही श्रीआनंदविमल-सूरि सं० १५८२ में एक दिन पत्तन नगर के निकट श्रीवटपल्ली नगरी में अपने शिष्य परिवार श्रीविनयभाव पण्डित आदिकों को साथ में

लेकर पधारे थे। इस समय में साधुओं में परिग्रह और क्रिया में शिथिलता की वृद्धि होगई थी, अतएव इन आचार्य महाराजने उपयोगी वस्त्र, पात्र और पुस्तक को छोड़करके दूसरे सब परिग्रहों को हटाया और क्रिया में भी यथोचित सुधार किया।

पूज्य मुनिवरों का और विशेष करके आचार्यादि उच्च पदवी धारक महाराजों का इस ओर ध्यान होना उचित है। पूज्यो! वर्तमान समय भी ऐसाही आया है जैसा कि श्रीआनदविमलसूरि के समय में आया था। आजकल धार्मिक बातों में अनेक प्रकार की शिथिलता देखने में आरही है। इनका अधिक वर्णन करके निन्दा स्तुति करने का यह स्थल नहीं है। इदानीन्तन दोषों को देखकर यह सब लोग स्वीकार करेंगे कि वर्तमान समय में उपर्युक्त दोनों बातों में सुधार करने की बहुतही आवश्यकता है। श्रीआनंदविमलसूरिजी की तरह इस समय में भी कोई सूरीश्वर या मुनि मण्डल निकल पड़े तो क्याही अच्छा हो? अस्तु।

श्रीआनंदविमलसूरि जीने अपनी उपदेश शक्ति से कुतिर्थियों की युक्तियों को नष्ट करके शुद्ध मार्ग का प्रकाश किया। इस सूरीश्वर के प्रभाव से हजारों जीवों ने ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप रत्नत्रय प्राप्त किया। सिवाय इसके अष्ट प्रवचन माता में यत्नवान श्रीआनंदविमलसूरि ने छट्ठ, अट्ठम, आलोचनातप, विशस्थानकतप, अष्टकर्मनाशकतप, आदि तपस्या के द्वारा अपने शरीर को कृश करने के साथ अपने पापों को भी भस्म कर दिया। जिस पूज्यपाद ने श्रीतपागच्छरूप आकाश में उदयावस्था को प्राप्तकर श्रीमहावीरदेव की परम्परारूप समुद्र के तटको अत्यन्तही उल्लास से अलंकृत किया। यह सूरीश्वर ने, अपनी पाटपर आचार्यवर्य श्रीविजयदानसूरि को स्थापित करके सं० १५१६ में समाधी को भजते हुए, अहमदाबाद के निकट निजामपुर नगर में इस मर्त्यलोक को त्याग करके देवलोक को अलंकृत किया।

आचार्य श्रीविजयदानसूरीश्वर इस भूमंडल में अनेक जीवों को शुद्ध मार्ग को दिखाते हुए विचरते रहे। आपने एकादशांगि की और बारह उपांग की प्रतियां को अपने हाथ से कईबार शुद्ध किया। इस श्रीविजयदानसूरिजी की क्रिया, स्वभाव और आचार कुशलता को देखने वाले लोग श्रीसुधर्मास्वामी की उपमा को देते थे। एक दिन की बात है कि श्रीविजयदानसूरिप्रभु मरुदेश को अलंकृत करते हुए क्रमशः 'अजमेरुदुर्ग' (लौकिक पुष्कर तीर्थके निकट) पधारे इस दुर्ग में रहने वाले जिनप्रतिमा के शत्रु 'लुंका' नामक कुमति के रागी लोगोंने क्रुर आशय और द्वेष बुद्धि से दुष्ट व्यन्तर भूत-पिशाच वाला मकान विजयदानसूरिजी को ठहरने के लिये दिखाया। सूरीश्वरने भी अपने शिष्य मण्डल के साथ उसि मकान में निवास किया। उस मकानमें रहने वाले दुष्ट देवोंने मनुष्योंको मारने की चेष्टायें शुरु की। वे अनेक प्रकारके विभत्सरूपों को धारण करके उस समुदायके साधुओं को डराने लगे। एकदिन यह बात साधुओं ने अपने आचार्य महाराज को निवेदन की। आचार्य महाराज ने अपने मनमें विचार किया कि जैसे पानी के प्रवाह से वन्हि का नाश होता है वैसे पुण्य के प्रभाव से यह विघ्न भी आप ही सब शान्त हो जायँगे। उस रोज रातको साधु लोग आवश्यक क्रिया—पौरसी आदि करके सो गये। किन्तु हमारे सूरीश्वरजी निद्रा न लेकर सूरि मंत्रका ध्यान करने लगे। उस समय श्रीविजयदान सूरीश्वर के सामने धीठ होते हुए, हास्य करते हुए, रुदन करते हुए, पृथ्वी पर जोर से गिरते हुए, अनेक प्रकार के विरुद्ध शब्द करते हुए, नाना प्रकार की क्रिड़ाओं को खेलते हुए और बाल चेष्टाओं को फैलाते हुए वे देवता लोग आने लगे। किन्तु उन देवों की सभी चेष्टाएं सूरीश्वर के सामने व्यर्थ होगई।

सूरीश्वर अपने ध्यान में ऐसे निमग्नथे कि इन क्रिया से किंचिन्मात्र भी विचलित नहीं हुए और बराबर अपना शुद्ध भाव धारण किये आसन पर विराजते रहे। जब नगर वासी सब लोगों को यह विश्वास हुआ कि सूरिश्वर के प्रभाव से व्यन्तरों का सर्वदा के लिये विघ्न दूर होगया। तब लोग मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करने लगे "अहो! इन मुनिराजों का कैसा प्रभाव है? कैसा तपस्तेज है? सभी लोग रागी होगए। जैसे सर्प अपनी कंचुकी को शीघ्र त्याग कर देता है उसी तरह वहाँ लोगों ने कुमति-कदाग्रह को त्याग करके विशुद्ध मार्ग को अंगीकार किया।

तीसरा प्रकरण।

(हीरविजयसूरि का जन्म, दीक्षा, पण्डितपद, उपाध्यायपद,-आचार्यपद इत्यादि)

श्रीहीरविजयसूरि का जन्म सुप्रसिद्ध गुजरात देश के भूषणरूप प्रल्हादपुर (पालनपुर) मे हुआ था। प्रल्हादपुर के विषय में एक ऐसी कथा है:—

"प्राचीनकाल में एक 'प्रल्हाद' नामका राजा हुआ था। उस राजाने श्रीकुमारपाल राजाकी बनवाई हुई सुवर्णमयी श्रीशान्तिनाथ-भगवान् की प्रतिमा अग्नि में गलादी। और उसकी वृष बनाकर अचलेश्वरके सामने स्थापित किया। अब इस पापसे राजाको महा-दुष्ट-कुष्टका रोग उत्पन्न हुआ। इस रोग के कारण राजा का तेज लावण्य इत्यादि जो कुछ था सब नष्ट होगया। राजा ने अपने नाम से प्रल्हादपुर (पालनपुर) नामका ग्राम बसाया। इसके बाद श्री शान्तिनाथप्रभुकी मूर्तिको गलादेनेसे जो पाप लगाया उसकी शान्ति के लिए राजा ने अपने नगर में श्रीपार्श्वनाथप्रभु का 'श्रीप्रल्हादन-विहार' नामका चैत्य बनवाया। इस मन्दिर के बनवाने के पुण्य से राजा का रोग शान्त होने लगा। और कुछ दिनों के बाद राजा ने अपने असली रूप तथा लावण्य को प्राप्त किया। सारे नगर के लोग इस पार्श्वनाथप्रभु के दर्शन से सर्वदा अपने जन्म को कृतार्थ करने लगे।"

इसी नगर में एक 'कुंरा' नामका श्रेष्ठी रहताथा। यह सत्पुरुष श्रेष्ठ बुद्धि, दया-दाक्षिण्य—निर्लोभता-निर्मायिता-इत्यादि सद्गुणों से अलंकृत था। इतना ही नहीं यह सेठ ब्रह्मचारी गृहस्थों में एक शिरोमणि रत्न था। इस महानुभावको एक 'नाथी' नाम की बड़

सुशीला स्त्री थी । यह पतिव्रता अपने पति के साथ सांसारिक सुखों को आनन्द अनुभव करती थी । इस धर्म परायणा नाथीदेवी ने उत्तम गर्भ को धारण किया । जिस प्रकार शुक्ति में मुक्ताफल दिन-प्रतिदिन बढ़ता है । उसी प्रकार गर्भवती का गर्भ भी दिन पर-दिन बढ़ने लगा । इस उत्तम गर्भ के प्रभाव से शेठ के घर में ऋद्धि-समृद्धि की अधिक वृद्धि हो गई ।

नवमास पूरे होने के अनन्तर सं० १५८३ के मार्गशीर्ष सुदी ९ के दिन इस देवीने उत्तमोत्तम लक्षणोपेत पुत्र को जन्म दिया । शेठ ने इस पुत्रके जन्मोत्सव में बहुत ही उत्तमोत्तम कार्य किये । शेठ के यहां कइ दिनों तक मंगलगीत होने लगे । याचकों को अनेक प्रकार से दान दिए । सारे नगर के आबाल वृद्ध सब प्रसन्न मन होकर उस महोत्सव मे सम्मिलित हुए । 'उत्तम पुरुषों का जन्म किस को आनंद देने वाला नहीं होता है ? चन्द्रमा की कला के समान दिन प्रतिदिन यह प्रतिभाशाली बालक बढ़ने लगा । जो लोग इसको देखते थे वो यही कहते थे कि यह भारतवर्ष का अपूर्व तेजस्वी हीरा होगा । इस बालक की माता ने स्वप्न में 'हीरराशी' ही देखीथी । पुत्र के उत्तमोत्तम लक्षण भी छिपे हुए नहीं थे । अर्थात् वह हीरे की तरह चमकता था । बस कहना ही क्या था ? सब लोगों ने मिल कर इसका नाम भी 'हीरा' रख दिया । लोग इसको 'हीरजी' करके पुकारते थे । काल की महिमा अचिंत्य है । हुआ क्या ? हमारे हीरजी भाइके माता पिताने थोड़े ही दिनों में सम्यक् आराधना पूर्वक देवलोक को अलंकृत किया । कुछ दिन व्यतीत होने के बाद हीरजी भाइ अपने माता-पिता का शोकदूर करके अपनी बहन को मिलने के विचार से श्रीअणहिलपाटक (अणहिलपुर पाटन) गये । बहन अपने भाइकी सुन्दर आकृति को

देख कर बहुत ही हर्षित हुई । वह सच्चे प्रेम का पान करने लगी । प्रिय पाठक ! अब देखिये क्या होता है ? ।

इधर मुनिपुङ्गव सद्गुणनिधान श्रीविजयदानसूरीश्वरजी भी उसी नगर में विराजमान थे । जन्म संस्कार से हमारे हीरजीभाई का साधुपर पूर्ण प्रेम था । एक रोज हीरजीभाई उपाश्रय में चले गए । सूरीश्वर को नमस्कार करके एक जगह बैठगए । तब सूरिजी ने इन्हीं के योग्य बहुत ही मनोहर धर्म देशना दी । 'निकटभवीपुरुषों के लिये थोड़ी भी देशना बहुत उपकार कारक होती है ।' बस ! उपदेश सुनतेही हीरजी को संसारसे विरक्तभाव पैदा होगया । हर्ष प्रकर्ष से गद गद होकर अपनी बहनके पास आकरके बड़े विनय भाव से कहने लगेः—

"हे सोदरि ! हे बहन ! मैंने आज संसार सागरसे तारने वाली और अपूर्व सुखको देनेवाली श्रीविजयदानसूरीश्वर महाराज के मुखारविंद से धर्म-देशना सुनी है । अब मैं उन गुरूजी से अवश्य दीक्षा ग्रहण करूंगा । अतएव हे प्रिय बहन ! तू मुझे आज्ञादे" ।

इस वाक्य को सुनते ही बहन का कलेजा भर आया और वह अश्रुमुखी होती हुई अपने लघु बन्धु को बड़े प्यार से कहने लगी ।

हे प्रिय बन्धो ! हे कोमल हृदयी वत्स ! तेरे लिये दीक्षा बड़ेही कष्ट से सेवन करने योग्य है । भाई ! दीक्षा लेने के बाद धूप-जाड़ा सहन करना पड़ेगा । खुलाशिर रखना पड़ेगा । केश का लुञ्चन करना पड़ेगा । नंगे पांव से चलना पड़ेगा । घर-२ भिक्षा मांगनी पड़ेगी । अनेक प्रकारकी तपस्याओं का सेवन करना पड़ेगा । बाइस परिसहों को सहना पड़ेगा । इस लिये अभी तेरे लिये दीक्षा योग्य नहीं है । तू प्रथम तो एक सुरस्त्री जैसी पद्मणी स्त्री के साथ शादी करले । उनके साथ में अनेक प्रकार के सांसारिक सुखों को

भोग ले। हे वत्स! जैसे लता को वृक्ष आधार है वैसे मेरे लिये तू ही आधार है"।

ऐसे २ मधुर वचनों से समझाने पर भी हीरजी अपने विचार में निश्चल रहा और उसने वैद्यकी तरह वैराग्य वचनरूपी औषधि से अपनी बहन के हठरूपी रोग को दूर किया।

इसके बाद हीरजी उपाश्रय में आकर वंदनापूर्वक गुरु महाराज से कहने लगा-' हेभगवन्! आपके पास में क्लेश को नाश करने वाली दीक्षा ग्रहण करने आया हूं। मेरी इच्छा है कि आपसे मैं दीक्षा ग्रहण करूं। आचार्यवर्य इस वालक के कोमल वचनों को सुनते ही हर्षित होगये। क्योंकि कहा भी है कि—

'शिष्यरत्नस्य प्राप्तौ हि हर्ष-उत्कर्षभाग् भवेत्'

शिष्यरत्न की प्राप्ति में बड़े लोगों को भी हर्ष होता है। सामुद्रिक शास्त्र में कहे हुए उत्तम लक्षणों को देख करके तपगच्छनायक श्रीविजयदानसूरिजीने निश्चय किया कि यह वालक होनहार गच्छनायक देख पड़ता है। अस्तु! इसके बाद अतुल द्रव्य खर्च करके एक बड़ाभारी दीक्षा महोत्सव किया गया। खान पान नाटक चेटक इत्यादि बड़ी धूमधामके साथ एक सुंदर रथ में बैठाकर नगर के समस्त मनुष्यों से वेष्टित इस कुमार को नगर के मध्य में हो करके लेचले। इस प्रकार से बड़े समारोह के साथ वनको जाते हुए वालक को दर्शक लोग आश्चर्य में होकर देखने लगे। नियत किए हुए स्थान में सं० १५९६ कार्तिक कृष्ण द्वितीया के दिन शुभमुहूर्त में हीरकुमार ने श्रीविजयदान सूरीश्वर के पास दीक्षा ग्रहणकी। गुरु महाराजने इसका नाम'हीरहर्ष' रक्खा। इसके बाद यह मुनि ज्ञान दर्शन चारित्रकी आराधना सम्यक् प्रकार से करते हुए, गुरुचरणाविंद की सेवा में लवलीन रहते हुए गुरुवर्य के साथ में हर्षपूर्वक विचरने लगे।

अब हीरहर्षमुनि, प्राणातिपात-मृषावाद अदत्तादान मैथुन और परिग्रह विरमणरूप पांच महाव्रतों को, ईर्यासमिति भाषासमिति-एषणा-समिति-निक्षेपणासमिति पारिष्ठापनिकासमिति रूप पांच समिति को, मन-गुप्ति-वचनगुप्ति-कायगुप्ति रूप तीनगुप्ति को सम्यक्प्रकार से पालन करने लगे। आपने थोड़े ही समय में अपने गुरु महाराज से स्वशास्त्र का सम्पूर्ण अभ्यास कर लिया और जैनसिद्धान्त के पारगामी होगए। एक दिन गुरुवर्य श्रीविजयदानसूरिजी अपने अन्तः-करण में सोचने लगे कि " यह हीरहर्षमुनि बड़ाबुद्धिमान् है, तार्किक है, अतएव यह अगर शैवादिशास्त्रों को जानने वाला होजाय तो बहुत ही उत्तम हो। जगत् में यह अधिक उपकार कर सकेगा, जैन शासन का उद्योत भी विशेषरूपेण कर सकेगा।" इस विचार को मुनि महा-राज ने केवल मन ही मात्र में न रक्खा, किन्तु इसको कार्य में लाने की भी कोशिश की। आप ने शीघ्र हीरहर्षमुनि को दक्षिण देश में जाने की प्रेरणा की। क्योंकि उस समय में दक्षिण में शैवादि शास्त्रों के वेत्ता अच्छे२ पण्डित उपस्थित थे। हीरहर्ष तो तय्यारही थे। केवल आज्ञा की ही देरी थी। श्रीविजयदानसूरीश्वर ने श्रीधर्मसागरगणि प्रमुख चार मुनिराजों के साथ में हीरहर्ष को दक्षिण देशकी ओर भेजा। दक्षि-ण देश में एक देवगिरिनामका किला था। वहां जाकर इन पांचों ऋ-षियों ने निवास किया। इस देवगिरि में रह कर इन्होंने चिन्तामण्यादि शैवादि शास्त्रों का प्रखर पाण्डित्य थोड़े ही दिनों में प्राप्त किया। कार्य सिद्धि होने के बाद ये लोग तुरन्तही गुजरात देश में लौट आए। जिस समय यह गुजरात आए उस समय गुरुवर्य्य श्रीविजयदानसूरि, गुजरात में नहीं थे किन्तु मरुदेश में विहार कर गये थे। अत एव गुरु महाराज के दर्शन करने में उत्सुक श्रीहीरहर्षमुनि ने भी मरुदेश प्रति प्रस्थान किया। थोड़े ही दिनों में नारदपुरी, जहां श्रीविजयदानसूरी-

श्वर विराजते थे, आ पहुंचे । बस ! कहना ही क्या ? बड़े विद्वान् और विनयवान् शिष्य के आने से गुरुमहाराज को अत्यन्त हर्ष प्राप्त भया । हीरहर्ष के लिए तो कहनाही क्या ? इस महानुभाव को तो गुरुमहाराज को देखते ही हर्ष के अश्रु निकलने लगे । तात्कालिक बनाये हुए १०८ श्लोक का पाठ करके, बद्धाञ्जलीपूर्वक, विधि सहित हीरहर्ष ने गुरुमहाराज को वंदना की । चन्द्र को देख करके जैसे समुद्रकी उर्मियें उल्लास को प्राप्त होती हैं । वैसे ही पुत्र समान, विद्वद्कलासम्पन्न शिष्य को देख २ कर गुरुवर्य महाराज हर्षित होने लगे ।

कुछ समय बाद उसी नारदपुरी नगरी में सं-१६०७ में शुभदिन को देख करके श्रीऋषभदेवप्रभु के प्रसाद में गुरुमहाराज ने इन हीरहर्ष को सभा समक्ष ' विद्वद् ' पद दिया । इस पद को पालन करते हुए केवल एकही वर्ष हुआ कि नारदपुरी के समस्त श्रीसंघने तपगच्छाचार्य श्रीविजयदानसूरि महाराज से प्रार्थना की ' हे प्रभो हम लोगों की यह प्रार्थना है कि श्रीहीरहर्ष पण्डित को ' उपाध्याय ' पद दिया जाय तो बहुतही उत्तम बात है । गुरुमहाराज के मनमें तो यह बात थी ही और संघने विनति की । सूरिजी महाराज के विचार और भी पुष्ट हुए । इसके बाद सं० १६०८ मिती माघ शुक्ल पञ्चमी के दिन नारदपुरी ही में श्रीसंघ के समक्ष श्रीवरकाणा पार्श्वनाथकी साक्षी में, श्रीनेमिनाथ भगवान् के चैत्य में गच्छ में उपस्थित समस्त साधुओं की अनुमति सहित श्रीहीरहर्ष पण्डित ' उपाध्याय ' पद पर स्थापित किए गये ।

'उपाध्याय पद पर नियत होने के पश्चात् सूरिजीने सोचा कि श्रीतपागच्छ का आधिपत्य हीरहर्षोपाध्याय को होगा '। ऐसा विचार करके आपने सूरिमन्त्र का अराधन करना आरम्भ किया । जब पूरे तीन

मास होगये, तब सूरिमंत्र का अधिष्ठायक देवता अत्यन्त हर्षपूर्वक श्रीसूरिमहाराज के सन्मुख प्रत्यक्ष होकरके कहने लगा;—' हे प्रभो ! हीरहर्ष नामक वाचक आपकी पाटपर स्थापन होने योग्य है '। बस ! इतनाही कह करके वह अन्तर्द्धान होगया ।

देवता का उपरोक्त वचन सुन करके सूरिजी को अत्यन्त हर्ष हुआ । आपने अपने मन में विचार किया कि यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इस देवताने मेरेही अभिप्राय को स्पष्ट रूपसे कहा । सूरीश्वर ने आ करके यह वार्ता अपने मंडल में प्रकाश की । समस्त साधुमण्डल ने यही कहा कि "जैसी आपकी इच्छा हो, वैसेही कार्य होगा' । इसके बाद सं० १६१० मिती मार्गशिर्ष शुक्ल दशमी के दिन शुभमुहूर्तमें महोत्सव पूर्वक 'शिरोही' नगर में चतुर्विध संघकी सभा के समक्ष परमगुरु श्रीविजयदानसूरीश्वर ने तपगच्छ के साम्राज्यरूप वृक्षके बीज भूत श्रीहीरहर्ष वाचक को 'आचार्य' की पदवी दी । सूरिपद होने के समय श्रीहीरहर्षोपाध्यायका नाम 'श्रीहीरविजयसूरि' रक्खा गया ।

प्रियपाठक ! देख लीजिये ! आचार्य पदवीयोंकी कैसी परिपाटी थी ? । भाग्यवान् पुरुष पदवी को नहीं चाहते हैं किन्तु पदवीयें भाग्यवानों को चाहती हैं । खेद का विषय है कि आजकल के लोग पदवीयों के पीछे हाथ पसारे घूमते—फिरतेहैं । गृहस्थों के सैकड़ों-हजारों रुपये नष्ट करवा देते हैं । फिर भी पदवी मिली तो मिली नहीं तो लोक में अप्रतिष्ठा होती है । क्या दो-चार पण्डितों को किसी प्रकार प्रसन्न कर लिया और इसी रीति से कोई भी टाइटल पाकर कृतकृत्य होजाना ही यथार्थ पदवी पाना है ? ऐसा नहीं है, यदि उच्च पदपर बैठने की इच्छा है तो पदवी परमात्मा के घरकी लेने की

कोशिश करनी चाहिये । किन्तु ठीक है ! निर्ग्रंथ जैन प्रजा में वर्तमान समय में जो न हो सो थोड़ा है ।

'शिरोही' नगर से विहार करते हुए श्रीविजयदानसूरि महाराजने श्रीहीरविजयसूरि को पत्तन (पाटण) नगर में चातुर्मास करने की आज्ञा दी । और आप स्वयं कोकण देश की भूमि को पवित्र करते हुए सूरत बन्दर पधारे ।

चौथा प्रकरण ।



(श्रीविजयसेनसूरि की दीक्षा, उपाध्याय-आचार्यपद, 'मेघजी' आदि सत्ताईस पण्डितों का लुंपाकमत त्यागना, और सुरत में दिगम्बर पण्डित, श्रीभूषण के साथ शास्त्रार्थ करके उसको परास्त करना इत्यादि)

इधर 'जयसिंह' बालक अपनी माता के साथ अपने मामा के यहां एश-आराम से दिवस व्यतीत कर रहा है । समस्त लोगों को आनंद दे रहा है । एक रोज यह बालक अपनी माता से कहने लगा "हे जननि ! हे मातः ! अब मैं अपने पिता 'कमा' ऋषि की तरह जन्म-मरणादि व्यपत्तियां को नाश करने वाली दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा वाला हूं, अर्थात् जो मार्ग मेरे पिता ने लिया है वही मार्ग मैं लेना चाहता हूं" ।

इन वाक्यों को सुन करके माता कहने लगी "हे बालक ! तू अभी बहुत छोटा है । लोहभार की तरह विषम बोझे वाली और शारीरिक सौख्य को ध्वंस करने वाली दीक्षा अभी तेरे योग्य नहीं

है। हे पुत्र ! तीक्ष्ण तलवार की धारपर चलना सुगम है । किन्तु दीक्षा ले करके उसको पालन करना बड़ा कठिन है । हे सुकुमार ! अभी तू एक मनोहर रूपवाली कन्या के साथ विवाह करके गृहस्थावस्था का समस्त सुख भोगले । देवांगना तुल्य सुंदर स्त्री के साथ देवता की तरह समस्त सुखों का अनुभव करले "।

इस प्रकार माताके वचनों को सुनता हुआ 'जयसिंह' बालक बोला " हे मातः ! आसन्नोपकारी श्रीमहावीर देवने मुक्तिमार्ग में निबद्ध बुद्धि वाले पुरुषों के लिये तो गृहस्थावस्था महा पापका कारण दिखलाया है । अतएव मुझे तो ऐसे अगारवास की इच्छा नहीं है । वह स्त्री और वह नाटक-चेटक, सज्जन पुरुषों को हर्ष दायक नहीं होते हैं । मैं समस्त प्राणियों में अद्भुत अभयदान को देने की इच्छा करता हूं । हे अम्बे ! समाधियुक्त मन वाले महात्मा पुरुषों के मार्गमें चलने का मेरा विचार है और उस मार्गमें संसार सम्बन्धी दुष्कर्म-व्यापार-प्रयासादिरूप आपत्तिएं सर्वदा नहीं है । अतएव मेरी तो यही इच्छा है कि तुम भी शीघ्रतया उत्सुक मन होजा । अर्थात् संयम स्वीकार करने में मेरी सहायता कर । इन वाक्यों को सुनकर और बालक का निश्चय विचार जान कर एक दिन इस बालक को साथ में ले करके कोडिमदेवी ने सुरत जाने के लिये प्रस्थान किया । मार्ग में जगह २ देवदर्शन-गुरुदर्शन करते हुए, त्रस-स्थावर जीवों की रक्षा करते हुए और भावचारित्र को धारण करते हुए बहुत दिन व्यतीत होने के बाद यह लोग सूरतबन्दर में जापहुंचे । इस समय सूरत बन्दर में श्रीविजयदानसूरीश्वर विराजते थे । अपने सुकुमार वयस्क बालक को साथ लेकर कोडिम देवी ने गुरु महाराज को विधि पूर्वक प्रणाम किया । विनीत भावसे हाथ जोड़कर कहने लगी । मेरी यह इच्छा है कि इस बालक के-

सहित आपके पास चारित्र ग्रहण करूं। आप हम दोनोंपर अनुग्रह करिये"। देवी के इस बचन को सुनकर और मनोहर आकृति युक्त बालक को देखकर गुरु महराज अपने अंतःकरण में हर्षित हुए। इस 'जयसिंह' बालक के मुख माधुर्य में गुरु महाराज की दृष्टि बार २ स्थिरता पूर्वक पड़ने लगी। इस बालक के प्रत्येक शरीर-बचन और गति इत्यादि को शास्त्रोक्त रीत्या देखकर गुरु महाराज ने सोचा कि यह बालक इस जगत में प्रभावशाली पुरुष होगा। पराक्रमी और अपूर्व कार्यों को करने वाला होगा।

यह विचार करते हुए आपने दीक्षा देने का विचार निश्चय रक्खा। श्राद्धवर्गने एक बड़ा भारी अठाइ महोत्सव बड़ी धूम धाम से किया। जिसका वर्णन इस लेखनी की शक्तिसे बाहर है। दीक्षा के दिन अनेक प्रकार के आभूषणों से अलंकृत 'जयसिंह' कुमार हस्तिपर आरोहण होकर, शहर के समस्त मार्गों में परिभ्रमण करता हुआ और अतुलदान को देता हुआ गुरु महराज के पास आया। नियत किये हुए स्थान में सं० १६१३ मिती ज्येष्ठ शुक्ल एकादशी के दिन शुभ मुहूर्त में 'जयसिंह कुमार' और उनकी माता कोडिमदेवी को दीक्षा दीगई। गुरु महाराजने 'जयसिंह' का नाम 'जयविमल' रक्खा। दीक्षा देने के अन्तर सूरीश्वर ने यह चातुर्मास सूरत में ही किया। यद्यपि इस समयमें जयसिंह (जयविमल) मुनि ६ ही वर्ष के थे तथापि अपनी शुद्ध बुद्धि से उन्हों ने वज्रस्वामी की तरह शास्त्राध्ययन कर लिया। अर्थात गुरु महराज से कितनेही शास्त्र पढ लिये।

एक दिन श्रीविजयदानसूरीश्वर ने विचार किया कि 'यह जयविमल विनयादि गुणोंसे विभूषित है, तीक्ष्णबुद्धि वालाहै, उत्तम लक्षण पड़े हैं अतएव यह मुनि हीरविजयसूरि के पास में विशेष योग्यता

प्राप्त करेगा ' बस । यही बिचार दृढ़ करके महाराज ने जयविमल को गुजरात जानेके लिये आज्ञा दी । विहार करते हुए जयविमलको उत्तमोत्तम लाभ सूचक शकुन हुए । आप जगह२उपदेश दानको करते हुए बहुत दिनों मे गुजरात जा पहुँचे । गुजरातमें भी अणहिलपुर पाटन, कि जहां श्रीहीरविजयसूरि जी विराजते थे वहां गए । नगर में प्रवेश करने के समय भी जयविमल को बहुत कुछ अच्छे२ शुकन हुए । आचार्य श्रीहीरविजयसूरिजी के पाद पंकजमें नमस्कार करने के समय बड़े हर्ष पूर्वक जयविमल के मस्तकपर श्रीहीरविजय सूरिजी ने अपना हाथ स्थापन किया । इस लघुमुनि को देख कर समस्त मुनिमण्डल और शहर के लोगों को चित्तमें अपूर्व आनन्द अभिव्याप्त हो गया । सब लोग उनकी ओर देखने लगे । 'जयविमल' मुनि विनय पूर्वक श्रीहीरविजयसूरिजी से विद्या को ग्रहण करते हुए विचरने लगे ।

इधर श्रीविजयदानसूरिजी सुरत बन्दर से विहार करते हुए और अनेक जीवों को प्रतिबोध करते हुए 'श्रीवटपल्ली' नगरी में आए । यहां पर आपने अपना अंत समय जाना । संयमरूपी शिखर में ध्वजतुल्य, और पाप को नाश करने वाली आराधना को किया और अरिहंतादि चार शरणों का ध्यान करते हुए, और चार आहारों के त्याग रूप अनशन को करके श्रीविजयदानसूरीश्वर ने सं० १६२१ वैशाख शुक्ल द्वादशी के दिन देव लोक को भूषित किया । इस स्वर्गवासी सूरीश्वरकी भक्ति में लीन इस नगर के श्रीसंघने गुरु पादुका की स्थापना रूप एक स्तूप भी निर्माण किया ।

अब तपागच्छ रूपी आकाश में हीरविजयसूरि रूपी सूर्य का प्रकाश फैलने लगा । सारे गच्छका कार्य आपही के शिर पर आपड़ा ।

एक समय में हीरविजयसूरि की इच्छा सूरिमंत्र की आराधना करने की हुई, विहार करते हुए आप 'डीसा' शहर में पधारे जहां बड़े आस्तिक और धर्म-प्रिय लोग रहते थे। इस नगर में साधुसमुदाय को पढ़ाने का, योग वहनादि क्रियाओं को कराने का और व्याख्यान इत्यादि के देने का कार्य श्रीजयविमल के ऊपर नियत करके श्रीहीरविजय सूरिजी ने त्रिमासिक सूरिमंत्र का ध्यान करना आरम्भ किया। एक दिन ध्यानारूढ़ सूरिमंत्र में तल्लीन सूरिजी को जान कर सूरिमंत्रका अद्भुत अधिष्ठायक देवता सूरिकी सामने उपस्थित हुवा और बोला " हे भगवन् ! आपकी पाट श्रीजयविमलगणि के योग्य है । " इस प्रकार की देव वाणी को सुन कर आचार्य बहुत प्रसन्न हुए। हीरविजयसूरि जी जब ध्यान से मुक्त हुए तब इन्हों ने यही विचार किया कि-जय विमल नामके शिष्यशेखर को अपनी पाट पर स्थापन करना चाहिये। यह विचार आपने साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघके समक्ष सूचित किया। क्योंकि जब तक मानने वालों की रुचि और श्रद्धा न हो, तब तक भारीसे भारी पदवी हो तो भी उससे कुछ कार्य नहीं निकल सकता। प्राचीन काल में आज कलके समान नियम नहीं था कि चाहे कोई माने चाहे न माने, पर पदवी का विशेषण नाम में अवश्यही लगाया जाय गा। अब तो यह चाल है कि पदवीधर अपने को पदवीयोग्य समझता है बस वह लम्बे२ पद अपने नाम में लगा ही लेगा। चाहे कोई उसकी माने या न माने। इससे बढ़ कर शोक की क्या बात होगी? धन्य है ऐसे महात्माओं को कि जो सच्चे पदवी धर होने पर भी अपने को कभी आपसे 'मुनि' शब्द का विशेण भी नहीं लगाते हैं।

हीर विजयसूरि जी के विचार का समस्त संघने सानंद अनु-

मोदन दिया। इसके बाद 'डीसा' नगर से आपने शिष्यमण्डल के साथ विहार किया।

जयसिंह मुनिने श्रीहीरविजयसूरिजी से स्व-परशास्त्र भी अपने स्वाधीन कर लिए। इन्हों ने व्याकरण सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ पढ़ने के साथ ही काव्यानुशासन–काव्यप्रकाश–वाग्भट्टालंकार-काव्यकल्पलता-छन्दानुशासन वृत्तरत्नाकर आदि ग्रन्थों का भी अभ्यास किया। न्याय शास्त्र में स्याद्वादरत्नाकर-(यह ग्रन्थ अणहिलपुरपाटन में राजा सिद्धराज जयसिंह के समक्ष 'कुमुदचन्द्र' नाम के दिगम्बर आचार्य के साथ विवाद करके 'जयवाद' प्राप्त करने वाले श्रीदेवसूरि ने बनाया है) अनेकान्त जयपताका-रत्नाकरावतारिका-प्रमाणमीमांसा न्यायावतार-स्याद्वादकलिका, एवं सम्मतितर्कादि जैन न्यायग्रन्थ तथा तत्वचिंतामणि-किरणावली प्रशस्तपादभाष्य इत्यादि अन्य शास्त्रों का अभ्यास करके दिग्गज पाण्डित्य को प्राप्त किया। श्रीहीरविजयसूरि विहार करते हुए जब स्तम्भतीर्थ पधारे, तब नगर में रहती हुई एक 'पुनी' नामकी श्राविका ने बहुत द्रव्य का व्यय करके सुन्दर रचनापूर्वक श्रीजीनेश्वर भगवान् की प्रतिष्ठा करवाई। इस नगर के लोग 'जयविमल' के पाण्डित्य को देख करके चकित होगये। 'योग्य पुरुषकी योग्यता पहचानना और योग्य का योग्य सत्कार करना, यह भी सज्जन लोग अपना परम धर्म समझते हैं।' 'जयविमल' की योग्यता को देख करके समस्त श्रीसंघने सूरिजी से प्रार्थना की कि-'महाराज! बड़े विद्वान् तेजस्वी जयविमल मुनीश्वर को 'पण्डितपद' प्रदान करना अच्छी बात है'। 'इष्टं वैद्योपदिष्टं' इस न्यायानुसार सूरीश्वर ने अपना विचार दृढ़ किया। इसके बाद सं० १६२६ मिती फाल्गुन शुक्ल दशमी के दिन त्यागी वैरागी और विद्वान् 'जयविमल' को आपने 'पण्डित' उपाधि से भूषित किया।

कुछ दिन के पश्चात् स्तम्भतीर्थ से सूरीश्वर ने अपने शिष्य मण्डल के सहित विहार किया। और विहार करते हुए अहम्मदावाद आपहुंचे। अहमदावाद के समीपवर्ती अहम्मदपुर नाम के शाखापुर में आपने निर्विघ्नसे चातुर्मास समाप्त किया। एक दिन श्रीहीरविजयसूरिजी रात्रि में पोरसी पढ़ाकर गच्छविषयक चिंता करते हुए सोगये। उस समय एक अधिष्ठायिक देव आकरके कहने लगा। ' हेसूरीश्वर! इस जयविमल पण्डितको ' पट्टप्रदान ' करने में आपकी क्यों अनुत्सुकता मालूम होती है ?। हे पूज्य! यह पट्टधर श्रीमहावीर परमात्माकी पाटपरंपरा में एक ' दिवाकर ' होगा, इतने शब्द कह करके वह देव अदृश्य होगया।

इसके पश्चात् वाचक-उपाध्याय-पण्डित-गितार्थ प्रमुख समस्त-मुनिगण ने नम्रता के साथ आचार्य महाराज से प्रार्थना की ' हेप्रभो! श्रीसंघ की इच्छा श्रीजयविमल पण्डित को ' आचार्य ' पद पर स्थापन करने की है। और वह इच्छा जैसे बने शीघ्र कार्य में परिणत होनी चाहिये।' देववाणी-संघवाणी और अपना अभिप्राय यह तीनों की ऐक्यता होने से आचार्य महाराज ने कहा " एवमस्तु॥" तदनन्तर अहम्मदावाद के श्रीसंघ के अत्याग्रह से, सूरिजीमहाराजने शहर में प्रवेश किया। प्रवेश होने के बाद ही ' आचार्य ' पदवी के निमित्त एक महोत्सव श्रीसंघकी तर्फ से आरम्भ हुआ। इस समय में इस नगर के नगर शेठ, गृहस्थ धर्मप्रतिपालक, श्रेष्ठी ' श्रीमूलचन्द्र ' ने विचार किया कि-न्यायोपार्जित द्रव्य के फल अर्हत्प्रतिष्ठा करना, जिनचैत्य, जिन पूजा, गुरुभक्ति और ज्ञानप्रभावना ही धर्मशास्त्रों में कहे हुए है। अतएव उन फलों को शक्त्यनुसार मुझको भी प्राप्त करना योग्य है। मैंने श्रीशत्रुञ्जयतीर्थ में श्रीऋषभदेव भगवान के प्रसाद की दक्षिण और पश्चिम दिशा में एक चैत्य बनवाया

है। उसी प्रकार यह अवसर भी मुझे अपूर्व ही प्राप्त हुआ है। इस लिए इस कार्य में भी कुछ लक्ष्मी का व्यय करके योग्य फल प्राप्त करूं। ऐसा अवसर पुनः नहीं प्राप्त होता है।

जिस के अन्तःकरण में ही ऐसे भाव उत्पन्न हो गए, वो क्या नहीं कर सकता है। इस श्रेष्ठीने इस समय में दान शालाएं खुलवा दीं। स्वामीवात्सल्य करना आरंभ किया। मंगलगीत गाने वालों को बैठा दिया। वरघोडे निकालने आरंम्भ किए। कहां तक कहा जाय?। इन्होंने बहुत द्रव्यों को लगा कर इस महोत्सव की अपूर्व शोभा बढ़ा दी। इस प्रकार के महोत्सव पूर्वक संवत् १६२८ मिती फाल्गुन शुक्ल सप्तमी के दिन शुभ मुहूर्त में 'जयविमल' को प्रथम उपाध्याय पद पर स्थापन करके तुरन्त ही 'आचार्य' पद दिया गया। इस नव सूरिका नाम श्रीहीरविजय सूरीश्वर ने 'श्री-विजयसेनसूरि' रक्खा। इस 'आचार्य' पदवी के समय में और भी बहुत से मुनिराजों को पदवीएं मीली। जैसे कि श्री विमलहर्ष पण्डित को 'उपध्याय' पद, पद्मसागर-लब्धिसागर आदि को 'पण्डित' पद इत्यादि। इस महोत्सव पर उपस्थित समस्त देशों के लोगों को एक—एक रुपये की प्रभावना की गई, और याचक लोगों को भी द्रव्य-वस्त्रादि से दान दिया गया।

यह दोनों गुरू शिष्य (आचार्य) श्रीतपागच्छ रूपी शकट के प्रतिभाशाली चक्र को चलाने वाले हुए। आचार्य पदवी होने के बाद कुच्छ रोज तो आपका वहां ही रहना हुआ। तदन्तर लोगों को धर्मोपदेश देते हुए विचरने लगे। जिस समय में यह दोनों विद्वान् सूरि धर्मोपदेश करते हुए विचरने लगे, उस समय कुतीर्थियों का प्रचार अनेक स्थानों से उठ गया और उनकी स्वार्थ लीला की महिमा अधिकांश में कम हो गयी।

जिस समय में श्रीहीरविजयसूरीश्वरजी, श्रीविजयसेनसूरीश्वर के साथ में गुजरात देशमें विचरते थे । उस समय में एक अभूत पूर्व बात देखने में आई ।

लुम्पाकमतका अधिकारी मेघजी नाम का एक विद्वान् था, स्वयं शास्त्र देखने से जिन प्रतिमा को देख कर अपने अन्धत्व को दूर करने की वाञ्छा थी । श्रीहीरविजयसूरि प्रभृति इस बात को सुन करके बड़े हर्षित हुए । और इस बात को सुन करके श्रीविजयसेनसूरि इत्यादि पुनः अहम्मदाबाद पधारे । श्रीसूरीश्वरों के आने के बाद 'मेघजी' ऋषि अपने सत्साहस पण्डितों के साथ, श्री सूरिजी के सन्मुख उपस्थित हुआ । लुपाक मतको त्याग करके श्रीसूरीश्वर के सत्योपदेश को उसने ग्रहण किया । सूरीश्वर ने इन 'मेघजी ऋषि' आदि की इच्छा से इन लोगों को बड़े महोत्सव के साथ नवीन शैक्षत्व में स्थापित किया । मेघजी ऋषि आदि श्रीआचार्य के साथ में शास्त्राध्ययन को करते हुए, बड़े विनयभाव से रहने लगे । इससे लोगों को और ही आनंद होने लगा ।

कुछ समय के उपरान्त अहमदाबादसे विहार करके आचार्य-उपाध्याय-पंडित एवं मेघजी आदि समस्त मण्डल के साथ में विचरते हुए श्रीहीरविजयसूरिजी 'अणहिलपुर' पाटन आए । आपने चातुर्मास भी यहां ही किया । चातुर्मास समाप्त होने के बाद सं—१६३० मिती पोष कृष्ण चतुर्दशी के दिन अपने पाटधर श्रीविजयसेनसूरि को गच्छ की सारणा-वारणा-पडिचोयणा प्रदान अर्थात् गच्छ परवर्यके साम्राज्य की आज्ञा (अनुमति) दी । इस कार्य के ऊपर इस नगर के लोगोंने बड़ा भारी उत्सव किया । जिस अवसर पर मरु—मालव—मेदपाट—सौराष्ट्र—कच्छ—कोङ्कण आदि देशों से हजारों लोक एकत्रित

हुए थे। श्रीविजयसेनसूरि गच्छ की समस्त अनुज्ञा अर्थात् गच्छ सम्बन्धी समस्त अधिकार प्राप्त करके और भी अधिक शोभायमान हुए। जिस समय हीरविजयसूरिजी ने विजयसेनसूरिको गच्छ संबन्धि अनुज्ञा दी उस समय में हीरविजयसूरिजी ने यही शब्द कहे "हे महानुभाव! इस गच्छका आधिपत्य और गच्छकी अनुज्ञा के साथ में तेरा संवन्ध हो" और आजन्मपर्यन्त गच्छ को तेरा वियोग कदापि न हो। विजयसेनसूरि के गच्छकी अनुज्ञा को प्राप्त करने के वाद चारित्र के मूल बीज रूप गच्छ की सम्पत्ति दिन प्रतिदिन वढ़ने लगी।

एक दिवस गच्छ का पूर्ण प्रबन्ध निर्वाह करने में कुशल और सर्व प्रकार के विचार करने में समर्थ अपने शिष्य (आचार्य) को देख करके श्रीहीरविजयसूरि अपने मनो मन्दिर में विचार करने लगे कि यह विजयसेनसूरि यदि मेरेसे पृथक् विहार करे तो बहुत देशों के भव्यों को पवित्र करनेमें भाग्यशाली बन सके और उसकी पदवी का गौरव भी वढ़ सके। इस प्रकार के विचार का निश्चय करके आपने श्रीविजयसेनसूरि को पृथक विहार करने की आज्ञा दी। इस आज्ञारूपी माला को अपने कण्ठ में धारण करके श्रीविजयसेनसूरि विचरने लगे। विचरते २ किसी रोज 'चम्पानेर' नगर को इन्हों ने प्राप्त किया। इस नगर में एक 'जयवंत' नाम का श्रेष्ठी रहता था। इसने बहुत द्रव्य का व्यय करके श्रीविजयसेनसूरिके पास सं० १६३२ वैशाख शुक्ल त्रयोदशी के दिन प्रतिष्ठा करवाई।

यहां से विहार करके सूरीश्वर 'सुरतबन्दर' आए। नगर के लोगों ने एक बड़ा प्रवेशोत्सव किया। चातुर्मास यहां ही किया। सूरीश्वर की कीर्ति चारों ओर फैल गई। यहांपर एक 'भूषण'

नाम का पंडित रहता था। उसको सूरि महोदय की यह कीर्ति बड़ी असह्य हुई। एक दिन ऐसाही हुआ कि इस नगर के समस्त श्री-संघ तथा श्रीमिश्र आदि अनेक अन्यमतानुयायी पंडितों की सभा में श्रीविजयसेनसूरि का 'श्रीभूषण' परिडत के साथ शास्त्रार्थ हुआ। कहना ही क्या है। शेर के सामने शृगाल कहां तक जोर कर सकता है? थोड़े ही प्रश्नोत्तरों में श्रीभूषण, परिडत, मूक हो-गए। आचार्य महाराज की विजय हुई। श्रीभूषण परिडत अनेक जैन परिडत और ब्राह्मण परिडतों की सभा में मूर्ख की तरह हँसी के पात्र हुए। श्रावक वर्ग एवं नगर के और २ लोगों ने श्रीविजय-सेनसूरि का अधिक सन्मान किया।

अब आप सुरत वन्दर में अनेक प्रकार से जैन धर्म की विजय पताका को फहराते हुए वहां से विहार करके पृथ्वी तलको पावन करते हुए पुनः गुजरात के पत्तन नगर में पधारे और चातुर्मास यहां ही किया।

पांचवा प्रकरण।

(श्रीहीरविजयसूरि और अकबरबादशाह का समागम, हीरविजयसूरि के उपदेश से अकबर बादशाह का 'अहिंसा' पर अनुराग होना और अपने राज्य में बारह दिन हिंसा कोई न करे इस प्रकार का फरमान पत्र लिखना इत्यादि।)

इस समय राजा अकबर, जो कि बड़ा प्रसिद्ध मोगल सम्राट होगया, राज्य करता था। इसकी मुख्य राजधानी 'आग्रा' नगर

में थी । लेकिन यह राजा अधिकतया 'फतेपुर' (सिकरी) में रहता था । राजा अकबर का राज्य चारों दिशाओं में फैला हुआ था । यह वही अकबर है जो कि हुमाऊ का पुत्र था । एक समय की वार्ता है कि अनेक राजाओं से नमन कराता हुआ यह अकबर बादशाह धर्माधर्म की परीक्षा करने लगा । जिससे परलोक की सम्पत्ति प्राप्त हो, उस प्रकार का पुण्य जिस मार्ग में हो उस मार्ग की परीक्षा करने में परीक्षक हुआ । इतना ही नहीं, किन्तु प्रत्येक दर्शन के धर्म गुरुओं से मिलना भी इसने आरम्भ किया । राजा अकबर बौद्धादि पांच दर्शनों के धर्म गुरुओं से साक्षात कर चुका, किन्तु अपने २ मतके अभिप्रायों को स्पष्ट रूप से स्थापित करके आत्मा का प्रियमार्ग बतानेवाला इन पांचो दर्शनों के गुरुओं में से किसी को नहीं पाया । जब राजा ने कोइ भी मनोज्ञ मुनिको यथार्थ रूप में नहीं देखा तब उदास होकर चुप बैठा ।

एक दिन 'अतिमेतखान' नामक किसी पुरुष से राजाने सुना कि इस जगत् में मनोहर आकृति वाले, सत्यवचन को कहने वाले, महा बुद्धिमान, समस्त शास्त्र के पारगामी 'श्रीहीरविजयसूरि' नामके मुनीन्द्र हैं । सूर्य की तरह वह भी एक प्रतिभाशाली पुरुष हैं । इस प्रकार की जब प्रशंसा सुनी तब राजा ने बड़े उत्साह से पूछा कि "वह इस वक्त कहां हैं।" अतिमेतखान ने कहा कि महाराज ! वे सूरीश्वर इस वक्त गुजरात देश में भव्यजीवों को मुक्ति मार्ग दिखा रहे हैं' । इस प्रकार निष्कपट वचन सुन करके राजा बहुतही प्रसन्न हुआ । तदनन्तर राजाने श्रीहीरविजयसूरीश्वर को बुलाने के लिए एक पत्र लिख कर अपने 'मेवड़ा' नामक मनुष्यों के हाथ 'अकमिपुर' में स्थित शीवखान नामक शाही के पास भेजा। उन्होंने जाना कि श्रीहीरविजयसूरि इस समय गन्धारबन्दर में हैं ।

ऐसा जान करके उन्हीं लोगों को वहाँ भेज दिया। जब यह लोग वहां पहुँचे तो उनके मुखसे राजा अकब्बर का बुलावा सुन कर सूरीश्वरादि सब कोई परमप्रसन्न हुए। राजा का पत्र पढ़ा। और इस के बाद सूरीश्वर ने वहाँ जाने का विचार निश्चय रखा।

चातुर्मास पूर्ण होने के पश्चात् मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी के दिन शुभ मुहूर्त में श्रीसूरीश्वर ने गन्धारबन्धर से विहार किया। स्थान२ में, नगर२ में उत्तमोत्तम महोत्सवपूर्वक राजा-महाराजा-शेठ शाहूकार सभी से परम सन्मानित होते हुए और जिज्ञासुओं को संसार सागर से पार उतरने का मार्ग दिखाते हुए और स्वसमुदाय को ज्ञानाभ्यास कराते हुए, गुजरात, मेवाड़-मालवा आदि देशों में होकर श्रीमुनिराज श्रीफतेपुर (सीकरी), कि जहां अकब्बर बादशाह रहता था, वहाँ पधारे।

सं-१६३६ ज्येष्ठ कृष्ण त्रयोदशी के रोज प्रातःकाल में सूरीश्वर ने पुर प्रवेश किया। इस प्रवेशोत्सव के समय में लोगो ने बहुत कुछ दान किया। इन लोगों के दानों में 'मेडता' के रहने वाले 'सरदारंग' नामक श्रावक ने जो दान किया वो सबसे बढ़ कर था। नगर प्रवेश के पश्चात् सूरीश्वर ने विचार किया कि—अब पहिले अकब्बर बादशाह से मिलना अच्छा है। राजा को मिलने का समय निश्चय करके सैद्धान्तिक शिरोमणि, वाचक श्रीविमल हर्ष गणि अष्टावधान शतावधानादि शक्ति धारक वाचक श्रीशान्तिचन्द्रगणि-पंण्डित सहजसागरगणि-पण्डित सिंहविमलगणि—वक्तृत्व कवित्वकलावान् पण्डित हेमविजयगणि-वैयाकरणचूडामणि पण्डित लाभविजयगणि और गुरुप्रधान श्रीधनविजयगणि प्रमुख तेरह मुनि तथा श्रीथानसिंघसा-श्रीमानसिंघसा—कल्याणसा आदि अनेक श्राद्ध वर्ग को साथमें लेकर श्रीहीरविजयसूरीश्वर



श्रीअकब्बरबादशाह की राजसभा में पधारे। इन विद्वद्मण्डलीको देखते हुए सारी सभा हर्षित होगई। स्वयं अकब्बरबादशाह ने विनयपूर्वक सामने जाकर के सुस्वागत पूछने के साथ श्रीहीरविजयसूरीश्वर के पादद्वय में नमस्कार किया। इस समय की शोभा को कौन वर्णन कर सकता है? नमस्कार करने के समय में श्रीसूरीश्वरने, सकलसमृद्धि को देने वाली किन्तु यावत् मोक्षफल को देनेवाली 'धर्मलाभः' इस प्रकार की आशिष देकरके राजा को सन्तुष्ट किया। (जैनमुनि लोग किसीको आशिष देते हैं तब 'धर्मलाभोऽस्तु' यही शब्द कहते हैं।)

अकब्बरबादशाह की राजसभा में जिस समय हीरविजयसूरिजी पधारे और जब अकब्बरबादशाह की भेट हुई, उस समय क्या हुआ? इस विषय में जगद्गुरु काव्य के प्रणेता एक श्लोक से कहते हैं कि.—

चंगा हो गुरूजीतिवाक्यचतुरो हस्ते निजं तत्करं
कृत्वा सूरि वरान्निनाय सदनान्तर्वस्त्ररुद्धाङ्गणे।
तावच्छ्री गुरवस्तु पादकमलं नारोपयन्तस्तदा।
वस्त्राणामुपरीति भूमिपतिना पृष्ठाः किमेतद् गुरो!॥

अकबरने पूछा—"गुरूजी! चंग ता हो?" फिर उनका हाथ पकड़ कर उन्हें महलों के भीतर लेगया। और बिछौने पर बिठाना चाहा, परन्तु सूरीश्वरने वस्त्रासन पर पैर रखने से इनकार किया। इस पर अकबर को आश्चर्य हुआ। और सूरिमहोदय से उसने इसका कारण पूछा। जैन शास्त्रों में इस तरह बिस्तरे पर बैठने की आज्ञा नहीं है, इत्यादि बातें जब अकबरने सुनी तब उसे और भी आश्चर्य हुआ।

अकब्बरबादशाह के नमस्कार करने के बाद, शेखुजी-पाहुड़ी

और दानीआर नाम के तीन पुत्र एवं सभामें आए हुए समस्तलोगों ने भूमि स्पर्श करके नमस्कार किया । समस्त सभा के शान्त होने के बाद 'मेवड़ा' नामके एक पुरुषने सूरीश्वर के आचारादि नियम जैसे कि— नित्य एक ही दफे आहार करना, सूर्य की विद्यमानता ही में विचरना, याचना किए हुए स्थान में निवास करना, एक महीने में कम से कम ६ उपवास अवश्य करना, आठ महीने भूमि पर सोरहना, गरम पानी पीना, इक्का-गाड़ी-आदि किसी वाहन में न बैठना, इत्यादि बहुत से नियम सुनाये । इस नियमों को सुनते ही लोगों के रोम हर्षित होगये ।

प्रिय पाठक ! क्याही आचार्य की आचारविशुद्धता थी ? शासन के रक्षक, प्रभावशाली और धुरंधर आचार्य होने पर इस प्रकार की उग्र तपस्या करना क्या आश्चर्यजनक नहीं है ? किन्तु यह कहना चाहिये कि उन महात्मा के अंतःकरण में सम्पूर्ण वैराग्य भरा हुआ था । वह यह नहीं समझते थे कि अब हम आचार्य होगये हैं, अब तो हमे हरजगह शास्त्रार्थ करने पड़ेंगे । वादिओं के साथ वाद विवाद करने पड़ेंगे । इस लिए जीभर के पुष्ट पदार्थ रोज उड़ावें । किन्तु उन महात्मापुरुषों में इस प्रकार के स्वार्थ का लेश भी नहीं था । पाठक ! उनलोगों के रोम२ में वैराग्य भरा हुआ था । वह लोग जो उपदेश देते थे वह सच्चे भाव से देते थे और इसी लिए तो उनलोगों का उपदेश सफल होता था । उन लोगों का 'धर्मोपदेशो जनरञ्जनाय' ऐसा सिद्धान्त नहीं था । साथही साथ वह यह भी समझते थे कि यदि हम सच्चे आचार में नहीं रहेंगे । यदि हम जैसा उपदेश देते हैं वैसा वर्ताव नहीं करें- तो हमारी संतति कैसे सुधरेगी ? हमारी संतति पर कैसे अच्छा प्रभाव पड़ सकता है ?

इसके उपरान्त राजा और सूरीश्वर दोनों क्षमापति एकान्त स्थान में विचार करने को बैठे। इस अवस्थामें स्थिर बुद्धि होकर राजा ने श्रीहीरविजय सूरीश्वर से 'ईश्वर का स्वरूप' पूछा। सूरीश्वरने भी बड़ी गंभीरता के साथ परमात्मा का स्वरूप, जिस तरह सिद्धसेनदिवाकर-कलिकाल सर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य प्रभु आदि पूर्वाचार्यों ने वर्णन किया है उसके अनुसार आपने भी कथन करके राजा को समझाया। इस विवेचन को आदर पूर्वक सुनता हुआ राजा अत्यन्त तुष्टमान-प्रसन्न हुआ। इसके पश्चात् राजा ने अपने राज्य में रक्खे हुए जैनागम, (अंगोपांग-मूलसूत्रादि) तथा भागवत—महाभारत-पुराण-रामायणादि जो शैवशास्त्र थे वह सब श्रीसूरीश्वर को दिखलाए। और विनय पूर्वक कहा कि—"यह सब पुस्तकें आप ग्रहण करिये"। इस प्रकार के वाक्य कह कर वह ग्रंथ सूरीश्वर को भेट करने लगा। राजा का बहुत आग्रह होने पर भी सूरिजी ने स्वीकार नहीं किये। तब राजाने त्याग किये हुए पुस्तकों में भी मुनिराज का निर्ममत्व देखकर अपने मनमें विचारा कि "अहो! यह मुनिमतंगज पुस्तक को भी ग्रहण नहीं करते हैं तो मैं जो धन-काञ्चन देने को विचार कर रहाहूँ उन सब पदार्थों को यह कैसे ग्रहण करेंगे।" जब पुस्तक सूरिश्वर ने नहीं ग्रहणकीं तब सब पुस्तकें अलग रखवादीं अर्थात् राजा खुद इनसे मुक्त होगया। वह सब पुस्तकें 'अकब्बर बादशाह' के नाम से आग्रा के एक भंडार में भेज दी गईं।

राजाने बड़े समारोह के साथ सूरीश्वर को उपाश्रय में पहुँचाया। जब शाहीमन्दिर से विदा होकर मुनीपुङ्गव राजद्वार प्रतोली में होते हुए चलने लगे, उस समय की शोभा को देख करके आस्तिक लोग मन में कहने लगे, क्या आज महावीर जन्म राशी

से 'भस्म' नामका दुर्ग्रह उतरा है ? । इस समय में राजा ने अनेक याचकों को दान दिये । और गीत—वादित्र की भी सीमा नहीं रक्खी ।

कुछ काल 'फतेपुर' में ही रह करके वहां से विहार कर सूरीश्वर आगरा पधारे । आगरा बादशाह की राज्यधानी थी । चातुर्मास आपने आग्रे में ही किया । अकबर बादशाहने अपनी सभा में इन शब्दों में सूरीश्वर की प्रशंसा की कि " धर्मकर्त्तव्य रूप क्रिया में और सत्य भाषण करने में तत्पर ऐसे किसी अन्य मुनि को मैने आज तक नहीं देखा है " आग्रे में रहे हुए गुरु महाराज की अद्भुत महिमा को सुन करके राजा अतीव हर्षित हुआ । उसने पर्युषणा पर्व के दिवसों में अपने राज्य में डुग्गी पिटवाकर यह आज्ञा प्रचारित करा दी कि प्रजा का कोई मनुष्य जीव हिंसा न करे ।

चातुर्मास समाप्त होनेपर कुशावर्त देशमें पधारकर 'शौर्यपुर' नगर में श्रीसूरिजी नेमीश्वर की यात्रा करने को चले । यात्रा करके पुनः आगरे में पधारे । यहां पर आपने श्री चिंतामणिपार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा की । तदन्तर यहां से विहार करके पुनः फतेपुर (सिकरी) पधारे । जहां कि अकबर बादशाह रहता था ।

गुरू महाराज का अपने नगर में आगमन सुन करके बादशाह अकबर बड़ा हर्षित हुआ और उसने मिलने की अभिलाषा प्रगट की । सूरीश्वर भी पुन राजाको धर्मोपदेश देने को उत्सुक हुए । जब राजाने सूरीश्वर को बुलाने के लिये आदमी भेजे गय सामान्य मुनियों को उपाश्रय में ही रख करके केवल सात विद्वानों को साथ में लेकर मुनिराज राज दरबार में पधारे । इस समय सूरीश्वर ने

 प्रसन्न होकर राजा को उपदेश दिया । इस उपदेश का यहां

तक प्रभाव पड़ा कि:-राजाने अपने राज्य में बारह दिन तक (श्रावण वदी १० से भादों सुदी ६ तक) समस्त जीवों को अभयदान देने का फरमान पत्र लिख दिया और इस फरमान पत्र का प्रचार अपने कर्मचारियों से सारे राज्य में करा दिया।

अकबर के इस फरमान का अनुवाद मालकम साहब ने अपनी पुस्तक में दिया है। हम ज्यों का त्यों प्रकाशित करते हैं:—

'IN THE NAME OF GOD. GOD IS GREAT

" FIRMAN OF THE EMPEROR JALALODEN MAHOMED AKBAR SHAH, PADSHA, GHAZEE.

" Be it known to the Moottasuddies of Malwa, that as the whole of our desires consist in the performance of good actions, and our virtuous intentions are constantly directed to one object that of delighting and gaining the hearts of our subjects, etc

" We on hearing mention made of persons of any religion or faith, whatever, who pass their lives in sanctity, employ their time in spiritual devotion, and are alone intent on the contemplation of the Deity, shut our eyes on the external forms of their worship, and considering only the intention of their hearts, we feel a powerful inclination to admit them to our association, from a wish to do what may be acceptable to the Deity. On this account, having heard of the extraordinary holiness and of the severe penances performed by Hirbujisoor and his disciples, who reside in Guzerat, and are lately come from thence, we have ordered them to the presence, and they have been ennobled by having permission to kiss the abode of honour

" After having received their dismissal and leave to proceed to their own country, they made the

following request — That if the King, protector of the poor, would issue orders that during the twelve days of the month Bhodon, called Putchoossur [which are hold by the Jains to be particularly holy], no cattle should be slaughtered in the cities where their tribe reside, they would thereby be exalted in the eyes of the world, the lives of a number of living animals would be spared, and the actions of His Majesty would be acceptable to God, and as the persons who made this request come from a distance, and their wishes were not at variance with the ordinances of our religion, but on the contrary were similar in effect with those good works prescribed by the venerable and holy Mussalman, we consented, and gave orders that during those twelve days called Putchoossur, no animal should be slaughtered

" The present Sunnud is to endure for ever, and all are enjoined to obey it, and use their endeavours that no one is molested in the performance of his religious ceremonies

Dated the 7th. Jumad-ul-Sani, 992, Hijirah

इसके उपरान्त सूरीश्वर के उपदेशसे कारागार से कैदी लोगों को छोड़ दिया । तथा दृढ़ पञ्जर से पक्षी समूहों को भी छोड़ दिया । राजा ने सूरीश्वर के सामने यह भी कहा कि इस भूमि में जहां तक मेरा आधिपत्य है वहांतक कोई पुरुष मीन मकरादि जलचर प्राणियों को भी नहीं मारेगा । यह कहकर राजा ने 'सीकरी' के पास 'डाबर' नामका सरोवर जो कि तीन योजन प्रमाण का था, बंद करवाया । इस सरोवर से राजा को बहुत द्रव्य की आमदनी होती थी ।

उपर्युक्त बारह दिनके सिवाय 'नवरोज का दिन'-'रविवार का दिन' 'फरवरदिन महिने के पहिले अठारह दिन' 'अबीज महिना सारा' इत्यादि दिनों में भी कोई हिंसा न करे, ऐसा फरमान पत्र अपने राज्यमें प्रचार किया था। तथा इस समयमें राजा ने श्रीहीरविजयसूरिजी को 'जगद्गुरु' एसी उपाधि दी थी। यह सब बातें ग्रन्थान्तरों से ज्ञात होती हैं।

इस प्रकार बहुत से कार्यों को कराते हुए श्रीसूरीश्वर ने इस साल का चातुर्मास फतेपुर में ही किया। यहांपर चातुर्मास करने से बादशाह को भी बहुत कुछ लाभ की प्राप्ति हुई।

छठवां प्रकरण।

(विजयसेनसूरि व उनके शिष्यका खरतरगच्छ वालों से शास्त्रार्थ, खरतरगच्छ वालों का पराजय होना और राजा खानखान से विजयसेनसूरिकी मुलाकात—इत्यादि)

इधर पूज्यपाद श्रीविजयसेन सूरीश्वरजी भ्रमर की तरह ग्रामानुग्राम विचरते हुए, दो चातुर्मास अन्यत्र करके तृतीय चातुर्मास पत्तन में करने की इच्छा से सं-१६४२ के वर्ष में पुनः'पत्तन'नगर में आए। यहाँ आने के बाद वाचक धर्मसागर के बनाए हुए "प्रवचन परीक्षा" में खरतरगच्छ वालों से सूरीश्वर का शास्त्रार्थ हुआ। यह विवाद लगातार चौदहरोज तक राजा की सभामें होता रहा। अन्तमें चौदवें दिन सूरिश्वर श्रीविजयसेनसूरि का जय और खरतरगच्छ के आचार्य का पराजय हुआ। खरतरगच्छ वाले बड़े रुष्ट होगए।

इस शास्त्रार्थ में खरतरगच्छ वालों की जब दाल न गली तब अहमदाबाद जाकर के कल्याणराज नामक एक नृपाधिकारी का आश्रय लेकर खरतरगच्छ वालों ने श्रीविजयसेनसूरि के एक शिष्य के साथ में बड़ा भारी विवाद उठाया। यह विवाद भी 'खान खान' नामक महाराजेन्द्र की सभा में सामन्तादिक राजलोक तथा नगर के बड़े २ लोगों के सामने हुआ। इस विवाद में भी अनेक शास्त्रों में प्रवीण, बुद्धिमान और तेजस्वी शिष्य ने कल्याणराज का और औष्ट्रिक मतके अनुयायी संघ का विभ्रम दूर करदिया। इस प्रकार जय को प्राप्त करने वाले मुनि का बड़ा सत्कार किया और बड़ी जयध्वनि के साथ सब शास्त्र धूम धाम से अपने स्थान पर लाए गए। जैसे जल में तेलका बिंदु फैल जाता है, उसी तरह यह जय ध्वनि चारों ओर फैल गई। रवि के उदयसे कोक पक्षी तो आनंदित होता है। किन्तु उलूक को तो अप्रीति ही होती है। एवं रीत्या इस जैन शासन की उन्नति से तपगच्छीय श्रीसंघ को तो बड़ा आनंद हुआ किन्तु अन्य कुतीर्थियों को बड़ाही हार्दिक कष्ट हुआ। इस जय ध्वनिने जब हमारे श्रीविजयसेनसूरीश्वर के कर्ण में प्रवेश किया, तब इस सूरीश्वर का अन्तःकरण बड़ाही प्रसन्न हुवा। आपने शीघ्र अहमदाबाद आने का विचार किया और पत्तन नगर से विहार करके लोगों को उपदेश देते हुए आप थोड़े ही दिनों में अहमदाबाद पधारे।

आपके आगमन से नगरके समस्त लोग आनंदित हुए। लोगों ने शहर के सम्पूर्ण मार्ग में अच्छी २ सजावटें की। बड़ी धूमधाम के साथ सूरीश्वर का प्रवेशोत्सव किया। इस प्रवेशोत्सव में राजा ने भी हाथी, घोड़े, रथ आदि बहुतसी सामग्री सामिल की। इस अभूतपूर्व वरघोड़े के साथ श्रीविजयसेनसूरीश्वर ने नगर के स-

भक्त लोगों को दर्शन देते हुए उपाश्रय को अलंकृत किया। श्राद्ध वर्ग की स्त्रियों ने सुवर्ण की चौकियों पर हीरा माणिक, मोती इत्यादि के साथीए और नंदावर्त बना २ करके बड़ी श्रद्धा से सूरीश्वर की पूजा की। श्राद्ध वर्ग ने अतुल द्रव्य का व्यय करके ज्ञान पूजा प्रभावना इत्यादि किए। श्रीसंघ में स्वामी वात्सल्य होने लगे। सूरीश्वर की धर्मदेशना से हजारों लोग कर्मक्षय करने लगे और सूरीश्वर के प्रताप से इनकी कीर्ति भी चारों ओर फैलगई।

इस कीर्ति को सुन कर श्रीखानखान राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और श्रीसूरीश्वरमहाराज के दर्शन करने की उसकी प्रबल इच्छा हुई। उसने आदर सत्कार के साथ अपने सेवकों को भेज कर सूरीश्वर को राजसभा में बुलाये। सूरीश्वर भी अपने विद्वान् शिष्यों को साथ लेकर सभा में पधारे। वहां जाकर सूरिजीने समयोचित श्रीसर्वज्ञभाषित धर्मप्रकाश किया। इस धर्मोपदेश को सुनते ही सारी सभा प्रसन्न होगई। और धर्मोपदेश को सुनकर राजा को यही कहना पड़ा कि " इस कलियुग में यदि कोई धर्म मार्ग प्रशस्य है तो यही मार्ग है जो श्रीसूरीश्वरजीने प्रकाश किया है "। राजा के मुखारविंद से इस प्रकार के वचन निकलने से श्रीसूरीश्वर की महिमा की कोई सीमा ही नरही। राजा के अत्याग्रह से सूरीश्वर ने इस सालका चातुर्मास इस राजनगर में ही किया। इससे राजा के मन में बहुत ही गौरव उत्पन्न हुआ।



सातवाँ प्रकरण ।

(श्रीविजयदेवसूरि का जन्म, दीक्षा, विजयसेनसूरि की कीहुई प्रतिष्ठायें तथा हीरविजयसूरि और विजयसेन सूरि का समागम ।)

राजदेश नामक देशके भूषण समान ' इलादुर्ग ' (इडर) नामकी नगरी में एक ' स्थिरा ' नामका श्रेष्ठी रहता था । इस श्रेष्ठी की एक 'रूपाई' नामकी भार्या थी जो बड़ी सुशीला एवं पतिव्रता थी। इस पतिप्राणा अबला के गर्भ से सं० १६३४ मिती पौषशुक्ला त्रयोदशी के दिन एक प्रतिभाशाली और उत्तमगुण सम्पन्न बालक का जन्म हुआ । माता पिता ने बड़े समारोह के साथ इस बालक का नाम ' वास ' रक्खा । बालक क्रमशः बालपन को त्याग करके जब बड़ा हुआ तब एक दिन उसके पिता का अनशनादि करके सुसमाधिपूर्वक देहान्त होगया ।

पिता के देहान्त होजाने के बाद इस वैराग्यवान् बालक ने अपनी माता से कहाः—मैं शिवसुख को देनेवाली दीक्षा को ग्रहण करने की उत्कट इच्छा रखता हूं, अतएव आप मुझे आज्ञा दीजिए। " पुत्र के इस दृढ़ता के वचनों को सुन करके माता ने यह कहा कि " हेनन्दन ! मैं भी तेरे साथ में वही मोक्षसुख को देनेवाली दीक्षा ग्रहण करूं गी। अपने को अनुमति देने के साथ स्वयं माता का दीक्षा लेने का विचार सुनकर पुत्र और भी अधिक आनन्दित हुआ। माता ने यही विचारा कि जैसे रत्न जो होता है वह सुवर्ण के साथ ही में शोभा को धारण कर सकता है । वैसे यह मेरा पुत्र भी जब गुरू की सेवा में रहेगा तब ही योग्यता को प्राप्त करेगा ', बस ! यही विचार का निश्चय करके माता अपने पुत्र के साथ इलादुर्ग (इडर) से चलकर

अहमदाबाद को गई जहां कि श्रीविजयसेनसूरि विराजते थे । इस पुत्र की ' सौम्याकृति ' और विस्तीर्णलोचन आदि उत्तम चिन्हों को देख कर सूरीश्वर ने मन में विचार किया कि यह बालक भविष्य में समस्त संघ को संतोष करने वाला होगा । जब सूरीश्वर ने यह भी सुना कि माता के साथ में यह बालक भी दीक्षा लेने वाला है, तब तो कहना ही क्या था ? सारे संघ में आनन्द फैलगया । इसके बाद सूरीश्वर ने शुभमुहूर्त में सं-१६४२ मिती माघ शुक्ल दशमी के दिन माता और पुत्र दोनों को दीक्षा दी । सूरीश्वर ने इस दीक्षित मुनिका नाम ' विद्या-विजय ' रक्खा ।

पाठक इस बातका विचार कर सकते हैं कि इस नववर्ष के बालक के अन्तः करण में दीक्षा लेने का विचार होना और माता का आज्ञा देना कैसी आश्चर्य की बात है ? क्या यह बातें सिवाय पूर्व जन्म के संस्कार के हो सकती है ? कभी नहीं ?

छोटी ही अवस्था में मुनि विद्या विजयने निष्कपट होकर, बड़े विनय पूर्वक गुरु महाराज से विद्याभ्यास कर लिया । दीक्षा हो जाने के बाद यहां पर एक ' आह्विदे ' नाम की श्राविका रहती थी । उस के घरमें फाल्गुन शुक्ल एकादशी के रोज सूरीश्वर ने जिनबिंब की प्रतिष्ठा की । इस समय में गन्धारबन्दर से ' इन्द्रजी ' नाम के शेठ आचार्य को वन्दना करने को आये थे । इन्होंने सूरिजी से विनति की कि ' श्रीमहावीरस्वामी की प्रतिष्ठा करवा करके मै अपने जन्म को सफळ करना चाहता हूं । अतएव आप अपने चरण कमळ से गन्धार बन्दर को पवित्र करिए ' । इस बिनति को स्वीकार करके अहमदाबाद से बिहार करके श्रीविजयसेनसूरि गन्धारबन्दर में पधारे । यहां पर पधार करके आपने दो प्रतिष्ठाएं की । एक सं० १६४३ मिती ज्येष्ठ शुक्ल दशमी के दिन ' इन्द्रजी ' शेठ के घर में

महावीर स्वामी की और दूसरी ज्येष्ठ कृष्ण एकादशी के दिन 'धनाई' नाम की श्राविका के मन्दिर में। सूरीश्वर ने चातुर्मास स्तम्भ तीर्थही में किया।

अब इधर श्रीहीरविजयसूरीश्वर ने अनुक्रम से आग्रा फतेपुर, अभिरामाबाद और आग्रा इस तरह चार चातुर्मास करके इधर मरु देशको पवित्र करते हुए 'फलोधी' तीर्थ की यात्रा करके श्री नागपुरमें पधारे। और वहाँ ही चातुर्मास किया। चातुर्मास समाप्त होने के बाद श्रीसूरीश्वरने गुजरात जाने का विचार किया। जब गुजरात में विचरते हुए श्रीविजयसेनसूरिजी ने यह बात सुनी कि गुरु वर्य गुजरात पधारते हैं, तब वह अत्यन्त खुश हुए और गुरु वर्य के सामने जाने को प्रस्तुत हुए। श्रीविजयसेनसूरि आदि मुनीश्वरों ने 'शिरोही' आकरके श्रीहीरविजय सूरिजी के दर्शन करके अपनी आत्मा को कृतार्थ किया। सिरोही में यह दोनो धुरंधर आचार्यों के पधारने से लोगों को बहुतही लाभ हुआ। कुछ काल शिरोही में गुरु वर्यकी सेवा में रह करके बाद गुरुआज्ञा रूप माला को कण्ठ में धारण करके श्रीविजयसेनसूरीश्वर ने शिरोहीसे विहार किया। और पृथ्वीतल को पावन करते हुए आप वजीआराजी नामक श्राद्ध के वहाँ अर्हत् प्रतिष्ठा करने के लिये स्तम्भतीर्थ पधारे।

गन्धार वन्दर में 'आल्हण' नामक श्रेष्ठी के कुल में 'वजीआ' तथा 'राजीआ' नामक दो भाइ बड़े धर्मात्मा रहते थे। वह दोनों प्रेमी बन्धु गन्धार वन्दर से खंभात गये। एक दिवस दैववसात् इन दोनों भाइओं ने खंभात में आ करके देव भक्ति—गुरु भक्ति-स्वामि वात्सल्य--तथा अन्य प्रकार के दान करके बहुत द्रव्यका व्यय किया। यहां पर इन लोगोंने ऐसे उत्तमोत्तम कार्य किये कि जिससे इन दोनों की कीर्ति देश—देशान्तरों में फैल गई।

जिसका सविस्तर वर्णन करना लेखनी की शक्ति से बाहर है। इसके अनन्तर राजा अकबरबादशाह की राज सभा में और फरँग के राजा की राजसभा में भी इनके गुणगान होने लगे । इन दोनों महानुभावों ने धर्म—अर्थ—काम इन तीनों पुरुषार्थों को अपने आधीन कर लिया।

एक रोज निष्पाप—निष्कपट स्वभाव युक्त यह दोनों भाई आपस में विचार करने लगे कि-अपने द्रव्य से देव-गुरु कृपा से सब कुछ कार्य हुए। अब जिन भवनमें जिन बिंबकी प्रतिष्ठा करानी चाहिये। क्योंकि जिन भवन में जिनप्रतिमा को स्थापन कराने से जो फल उत्पन्न होता है उस पुण्यरूपी पुष्प से मुक्ति का सुख मिलता है। यह विचार करके जिनबिंब की प्रतिष्ठा कराने के लिये एक बड़े भारी उत्सव और बड़ी धूमधाम के साथ सं० १६४५ मिति ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी के दिन उत्तम मुहूर्त में श्रीविजनसेनसूरीश्वर के हाथ से श्रीचिन्तामणि पार्श्वनाथ तथा श्रीमहावीर स्वामी की प्रतिष्ठा करवाई। सप्तफणिधर इस चिंतामणि पार्श्वनाथकी प्रतिमा ४१ अंगुल की रक्खी। इस प्रतिमा का चमत्कार चारों ओर फैलने लगा। क्यों कि प्रत्येक पुरुष की मनोकामना इस प्रतिमा के प्रभाव से पूरी होती थी। इसके पश्चात् यहां पर इन दोनों महानुभावोंने एक पार्श्वनाथ प्रभुका मंदिर भी बनवाया। इस मंदिर में बारह स्तंभ, छद्वार और सात देवकुलिका स्थापितकी गई। इस मंदिर में सब मिला करके २५ जिन बिंब स्थापन कर वाये। सब से बड़ कर बात तो यह हुई कि इस मंदिर में चढ़ने—उतरने की २५ तो शिढ़ीयाँ रखवाई थीं ! मूल प्रतिहारमें एक बाजू में ३७ आंगुल प्रमाण वाली श्रीआदीश्वर भगवानकी प्रतिमा और दूसरी बाजू में ३३अंगुल प्रमाण वाली। श्रीमहावीर स्वामी की प्रतिमा विराजमान

की गई । इस प्रकार इस मनोहर-रम्य मंदिर में श्रीजिनेश्वरों की श्रीविजय सेनसूरीश्वरने प्रतिष्ठा की ।

आठवां प्रकरण ।

—–—:o:——–—

(अकबर बादशाह का श्रीशत्रुंजयतीर्थ करमोचन पूर्वक फरमान पत्र देना । श्रीविजयसेनसूरि को बुलाना । श्रीविजयसेनसूरि का लाहौर प्रति गमनमार्गमें अनेक राजाओंसे सम्मानित होना और सुखशांति से लाहोर पहुंचना । इत्यादि)

अब श्रीविजयसेनसूरि गन्धार बन्दर से विहार करके अपने गुरु श्रीहीरविजयसूरि जी के पास आए। इन दोनों आचार्यों ने सं० १६४६ की साल का चातुर्मास राजधन्यपुर (राधनपुर) में किया । यहांपर एक दिन श्रीहीरविजयसूरि जी के पास लाहोर से अकबर बादशाह का पत्र आया । उसमें उन्हों ने यह लिख भेजा कि:-" अबसे इस तीर्थ का कर मेरे राज्य में कोई नही लेगा । इस प्रकार का मैने निश्चय किया है । अब आपका पवित्र शत्रुंजयतीर्थ आपको कर मोचन पूर्वक देने में आता है " । इस तरह लिखकर साथही साथ यह भी राजा ने लिखा कि-" आप मेरे ऊपर कृपा करके अपने पट्टधर को यहांपर भेजिये । क्योंकि जब मैंने पहिले आपके दर्शन किए तब से मैं पुण्य से पवित्र हुआ हूं। अब आप कृपा करके अपना कोई विद्वान् शिष्य मेरे पास भेजिये " इस पत्र को पढ़कर बड़े विचार पूर्वक आपने श्रीविजयसेनसूरिजी से कहा

कि " हे स्वच्छात्मन् ! श्रीअकबर बादशाह को मिलने के लिये तू आ। इस राजा की भूमि में स्थिति को फैलाते हुए हम लोगों को उनकी आज्ञा शुभ फलकी देने वाली है।" इस वचनों को सुननेही श्रीविजयसेनसूरि ने कहा 'जैसी पूज्य की आज्ञा!'। बस ! आपने अकबर बादशाह के पास जाने का विचार निश्चय किया। और सं० १६४६ मार्गशिर्ष शुक्ल तृतीया को शुभ मुहूर्त में श्रीहीरविजयसूरि जी को नमस्कार करके आपने लाभपुर (लाहौर) के प्रति प्रयाण भी किया।

मार्ग में चलते हुए पहिले आप पतन (पाटण) पधारे। यहां पर श्रावक लोगों ने बड़ा उत्सव किया। यहां के सब मंदिरों के दर्शन करके क्रमशः देलवाड़ा आदि तीर्थों की यात्रा करते हुए 'शिवपुरी' पधारे। यहांपर 'सुरत्राण' नामक राजा रहता था। सूरीश्वर का आगमन सुनकर राजा ने अपनी 'शिरोही' नगरी बहुत ही शुशोभित की। और बड़ी भक्तिके साथ दो कोश तक अगमानी करने गया। राजा ने सूरीश्वर का बड़े सत्कार के साथ पुर प्रवेश करवाया। यहां पर कुछ दिन स्थिरता करके सूरि जी आगे बढ़े। क्रमशः विचरते हुए और भव्य जीवों को उपदेश देते हुए 'श्रीनारदपुरी' (जोकि अपनी जन्म भूमि थी) में पधारे। चाहे जैसे मनुष्य हो और चाहे जैसा जन्म भूमि वाला ग्राम हो, जन्म भूमि में जाने से सबको आनंद होता है। क्योंकि 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' यह लोकोक्ति संसार में प्रचलित है। सूरिजी को भी यहां आने से बहुत आनंद हुआ। यहांपर सूरिजीने पूर्वावस्था के संम्बन्धि समूह के आग्रह से कुछ समय निवास किया। यहां के लोगों ने बहुत द्रव्य खरचा करके सूरिजी के उपदेश से शासन की प्रभावना की। यहां से विहार करके आप मेदिनीपुर (मेड़ता)

पधारे । यहां के राजा ने भी सूरिजी का बड़ा सत्कार किया । यहां से बैराट नगर–महिम नगर आदि नगरों में होते हुए और धर्मोपदेश देते हुए लाहौर से ६ कोश दूर 'लुधियाना' में पधारे । यह समाचार लाहौर में प्रसिद्ध होगया कि श्रीविजयसेनसूरिजी लोधिआना पधारे हैं, तब श्रीअकबर बादशाह के मंत्रियों का अधिपति 'शेख' का भाई 'फयजी' (जोकि दशहजार सेनाका सेनाधिपति था) वह और अनेक लोग गुरु महाराज के दर्शन करने को वहांपर जा पहुंचे । वहांपर समस्त लोगों के सामने फयजी—सेनाधिपति के आग्रह से गुरु महराज के शिष्य श्रीनन्दिविजय नाम के मुनि ने अष्टावधान साधन किए । इस चमत्कार को देख करके सब लोग चकित होगए । इस चमत्कार से चमत्कृत होता हुआ शेख का भाई फयजी अकबर बादशाह के सामने जाकर कहने लगा "हे राजेश्वर ! श्रीहीरविजयसूरि लाभपुर में पधारते हैं । अब थोड़ीही दूर हैं । यह सूरिजी भी गुणों के एक मात्र भण्डारही हैं इनके शिष्य भी बड़ी २ कलाओं को जानने वाले हैं । इन महात्माओं में नन्दिविजय नामके मुनि अद्भुत हैं ।

इस प्रकार की तारीफ को सुनतेही राजा मुनिजी के दर्शन करने को उत्सुक हुवा । सूरीश्वर ने अपनी शिष्यमण्डली के साथ आते हुए 'पञ्चकोशी' वनको प्राप्त किया । जहां की राजा का महल था । वहां पहिले पण्डित सुरचंद्रगणिके शिष्य श्रीभानुचन्द्र नामके उपाध्यायको श्रीहीरविजयसूरिने राजाके साथमें धर्म गोष्टी के लिये बैठाथा । इस पञ्चकोशी वनमें भानुचन्द्र उपाध्याय सामने आए । राजाने अपने नगर निवासियों के साथ हाथी, घोड़े, पयदल आदि सेना और अपने मंत्री वर्गको भी भेजकर सूरीश्वरका बहुत [illegible]र किया । इस धूमधाम के साथ सूरिजीने लाहौर शहरके पास

एक 'गंज' नामक शाखापुर में निवास किया। इसके पश्चात् अपनी राजधानी को देखने की इच्छा से राजाने सूरीश्वर के शिष्यों को अपनी पास बुलाए। गुरु महाराज की आज्ञानुसार श्रीनन्दिविजयादि साधु राजा की राजसभा में गये। इस सभामें श्रीनन्दिविजय मुनिने आश्चर्यकारी—अद्भुत अष्टावधान को साधन किये। इस चमत्कारी विद्या को देख करके सब लोग मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करने लगे, यहां तक कि स्वयं बादशाह भी अपने मुख को न रोक सका।

इसके बाद ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी के दिन राजा ने बड़े उत्सव के साथ श्रीसूरीश्वर को नगर प्रवेश करवाया। राजा ने हमारे सूरीश्वर को 'अबुलफजल' नामक प्रसिद्ध नियोगी के मकान में निवास करवाया। इसके बाद राजा ने श्रीसूरीश्वर को अपनी बैठक में बुलाने के लिये अपने मंत्रियों को भेजा। सूरीश्वर अपना गौरव और धर्म का गौरव समझ करके राजा के मकान में पधारे। राजा ने बड़ी नम्रता के साथ श्रीसूरिजी से पूछा कि " हे गुरवः! आपके शरीर में और आपके शिष्य मण्डल में अच्छी तरह कुशल मंगल सुख शान्ति है? हे महाराज! श्रीहीरविजयसूरि जी कौन देश में? कौन नगर में विद्यमान है। वे भी सुख शान्ति से जगत् का उद्धार करने में कटिबद्ध हैं? वे महात्मा जी वर्तमान कौन २ कार्य में प्रवृत्त है? कृपाकर मुझे सब हाल सुनाइये।

तदन्तर सूरिजी ने बड़े मधुर स्वरसे कहाः-हे राजन्! आपके अनुभाव से भूवलय में रहते हुए हमें सब प्रकार से सुख शान्ति प्राप्त है। हे महानुभाव! इस जगत में आपके शासनकाल में समस्त प्रकार के भय नष्ट हुए हैं। अतएव आपके प्रभाव से सबको शान्ति प्राप्त है। सूरि पुङ्गव, गुरुवर्य श्रीहीरविजयसूरीश्वर जी व-

र्तमान समय में गुजरात देश में बिराजते हैं। वे दयालु महाराज ज्ञान-ध्यान-तप-जप और समाधि से श्रीपरमेश्वर की उपासना करते हैं। हे राजेश्वर ! आपकी समस्त धर्मानुयायियों के ऊपर प्रिय दृष्टि को देखकर तथा आपका समस्त स्थानों में आधिपत्य जानकर श्रीहीरविजयसूरि जी महाराज ने आप को 'धर्मलाभ' रूप आशिष दी है। हे भूपाल ! सकल धर्म की माता 'दया' है। समस्त पुण्यों में मुनिओं के मनकी करुणाही अभीष्ट है। अतएव समस्त धर्माचरण में 'दया' का ही प्रधान्य है। हे राजन् ! इस प्रकार की कृपा-दया ने वर्तमान समय में समस्त जगत् को व्याप्त किया है। हे भूप ! यह आपकी बहु व्यापक 'दया' से "गुरुवर्य" बहुत प्रसन्न हैं। वे गुरुवर्य जी स्वयं भी दयाके भण्डार हैं। आपकी दया उनको अभिलषित है। जिस प्रकार धर्म का मूल दया है उसी प्रकार दयाके मूल आप हैं। आपका ऐसा महत्व विचारकर सूरीश्वर जी आपके कल्याणाभिलाषी हैं अर्थात् आपके ऐसे धर्मात्मा राजा का कल्याण हो यही हमारे गुरुवर्य की मनो कामना है।

इन वचनों को सुनती हुई सारी सभा अतीव हर्षित होगई। और सब अपने अंतःकरण में यही विचार करने लगे कि-अहो ! इस चतुर पुरुष का कैसा वचन चातुर्य है ?।

इसके पश्चात् राजाने कहा कि-' हे सूरीश्वर ! आज की सभा की यह इच्छा है कि-श्रीनन्दिविजय मुनीश्वर पहिले दिखाए हुए अष्टावधान को साधन करें, तो बहुत अच्छी बात है '। सूरिजी ने शीघ्र अपने शिष्य को आज्ञा दी। नन्दिविजय मुनिने अष्टावधान साधन किये। इस चमत्कारक विद्या से सारी सभा और राजा प्रसन्न होगए। और सम्पूर्ण सभा के सामने इस मुनि वरको 'खु-

शफहम ' शब्दका विशेषण देकर उनकी अत्यंन्त प्रशंसा की। इस समय राजा की अनेक सामग्री के साथ लोगों ने बड़ा उत्सव किया। एवं रीत्या राजसभा में बड़े सन्मान को प्राप्त करके श्री-विजयसेनसूरि अपने शिष्य मण्डल के साथ उपाश्रय में पधारे। श्राद्ध वर्ग ने आज से एक अठाइ महोत्सव प्रारम्भ किया। इस अपूर्व शासन प्रभावना को देखकर अन्यदर्शनी लोग जैनों का एक छत्र राज्य मानने लगे।

नववां प्रकरण।

—:ॐ:—

(ब्राह्मणों के कहने से राजाका भ्रमित होना, श्रीविजय-सेनसूरिके उपदेशसे राजा का भ्रम दूर होना। 'इश्वर'का सच्चास्वरूप प्रकाश करना और सूरिजी के उपदेशसे बड़े २ कार्योंका बन्द करना)

इस प्रकार सूरिजी का और राजा का प्रगाढ़ प्रेम दिन परदिन बढ़ने लगा। सूरिजी की महिमा भी बढ़ने लगी। इस जैन धर्मकी महिमा को नहीं सहन करने वाला एक ब्राह्मण एक दिन राजा के पास जा कर बोलाः—

"हे महाराज, ये जैन लोग, पाप पुञ्ज को हरण करने वाला-जगत् को बनाने वाला-निरंजन—निराकार—निष्पाप-निष्परिग्रह आदि गुण विशिष्ट 'ईश्वर' को मानते नहीं है। और जब वे लोग ईश्वरही को नही मानते हैं तो फिर उन का धर्म मार्ग वृथा ही है। क्योंकि जगदीश्वर की सत्तारहित होकर ये लोग जो कुछ

सुकृताचरण करते हैं वह सब निष्फल ही है। अतएव आप जैसे राजराजेश्वर के लिये जैनों का मार्ग कल्याकारी नहीं है।"

बस! ब्राह्मण देवताके इस बचन से ही राजा को बड़ा क्रोध हुआ। एक दिन सूरीश्वर राज सभामें आए, तब राजाने क्रोधको अपने अन्तःकरण में रक्खा और ऊपर से शान्ति रख करके सूरीश्वरसे कहा "हे सूरिजी लोग कहते हैं कि ये आपकी जो क्रियाएँहैं वे सब लोगों को प्रत्यय कराने वालीहैं। मनशुद्धि को करने वाली नहीं है। अतएव इसके निमित्त से समस्त प्राणिओं को ठगने वाले ये महात्मा हैं। क्योंकि ईश्वर को तो मानते नहीं है।' हे गुरु वर्य! इस प्रकारकी मेरे मनकी शंका आप के वचनामृत से नाश होनी चाहिये।"

बादशाह का यह वचन सुनते ही सूरीश्वर समझ गए कि—राजाकी स्वयं यह कोपाग्नि नहीं है, किन्तु ब्रह्म देवता की यह फेलाई हुई माया है। अस्तु। सूरीश्वर ने राजा से कहा—हे राजन्! हमलोग जिस प्रकार से ईश्वर का स्वरूप मानते हैं, उस प्रकार से और किसी मतमें ईश्वर का स्वरूप देखा नहीं जाताहै। जरा साव धान हो करके आप सुनिए। "जिस ईश्वर के हर्ष–पीयूष से भरपूर नेत्र शान्त-रसाधिक्य को छोड़ते नहीं हैं। जिस का वदन, समस्त जगत् को परमप्रमोद रूप—सम्पत्तिको देता है। जो प्रभु अश्व—मेष-मयूरादि किसि वाहन पर बैठते नहीं है। जिस को मित्र पुत्र कलत्रादि कोइ भी परिग्रह नहीं है। जिस ईश्वर को तिन जगत् में भूत-भविष्यत् और वर्तमान वस्तु का प्रकाश करने वाला ज्ञान सर्वदा पूर्णरूप से विद्यमान है। जिस ईश्वर को काम-क्रोध-मोह-माया-लोभ निद्रा आदि दूषण हैं ही नहीं। जिसके ज्ञान गुणो-के आगे सूर्य भी एक खद्योतकी उपमा है। जिस प्रभुको

ज्ञानातिशय जीवों के अंतःकरण में प्रगट होकर अज्ञान रूपी अन्धकार को नाश करता है। पुनः जो ईश्वर जन्म-जरा-मरण आधि-व्याधि उपाधि से रहित है। जो ईश्वर स्त्री पुरुष शत्रु-मित्र-रंक-राय-शेठ- शाहुकार-सुख-दुःख इत्यादि में सर्वदा समान मन वाला है अर्थात् समभाव ही को धारण करता है। जिस को शब्द-रूप-रस-गन्ध और स्पर्श रूप पांचो प्रकार के विषयों का अभाव है। जिसने उन्मादादि पांचो प्रमाद को जीत लिया है। और जो ईश्वर अठारह दोषों से रहित है। इस प्रकार के चिदात्मा अचिंत्य स्वरूप-परमात्मा-ईश्वर को हम मानते हैं। हे राजन्! जिस अधम ब्राह्मण ने आप को कहा है कि—जैन दर्शन में परमेश्वर का स्वीकार नहीं किया है। वह सर्वथा असत्प्रलापी है। क्या उस ब्राह्मण ने 'हनुमान नाटक' का यह निम्न लिखित श्लोक नहीं पढ़ा है:—

> यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो।
> बौद्धाः बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्मेति मिमांसकाः॥
> अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्त्तेति नैयायिकाः।
> सोयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥१॥

अर्थात्—परमात्मा को शैव लोग 'शिव' कह करके उपासना करते हैं। वेदान्ती लोग 'ब्रह्म' शब्द से। प्रमाण में पटु बौद्ध लोग 'बुद्ध' शब्द से। मिमांसक लोग 'कर्म' शब्द से। जैन शासन में रत जैन लोग 'अर्हन्' शब्द से तथा नैयायिक लोग 'कर्ता' शब्द से व्यवहार करते हैं। वही त्रैलोक्य का स्वामी परमात्मा तुम लोगों को वाञ्छित फल देने वाला है।

इस श्लोक से यह बात सुस्पष्ट मालूम हो जाती है कि 'जैन' लोग परमात्मा को मानते हैं।

हे राजन्! वह परमेश्वर जिसको हम अर्हन् शब्द से पुकारते हैं, वह दो प्रकार के स्वरूपों में स्थित हैं। पहिले तो तीर्थंकर समवसरण में स्थित होते हुए और ज्ञानादि लक्ष्मी के स्थान भूत विचरते हुए हैं। इस समयमें भगवान को चोतीस अतिशय और वाणी के पैंतीस गुण होते हैं। (सूरीश्वर ने इनका भी स्वरूप समझाया।)

दूसरे प्रकार में अर्थात् दूसरी अवस्था वाले देवका स्वरूप इस तरह है। वह परमात्मा जिसकी आत्मा संसार से उच्छिन्न है, जो सर्वदा चिन्मय और ज्ञानमय है। इसका कारण यह है कि उस अवस्था में उसके पांच प्रकार के शरीरों में से कोई भी नहीं है। इसके अतिरिक्त वह ईश्वर अनुपम है अर्थात् जिसकी उपमा देने के लिये कोई वस्तु ही नही है तथा जो नित्य है। ऐसे देव को हम मानते हैं। समुच्चय रूपसे कहा जाय तो अठारह दूषणों से रहित देव को हम मानते हैं-अठारह दूषण ये हैः—

अन्तराया दान-लाभ-वीर्य-भोगोपभोगगाः ।
हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च ॥१॥
कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा च विरतिस्तथा ।
रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाप्यमी ॥२॥

दानान्तराय, लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, काम, मिथ्यात्व, अज्ञान, निद्रा, अविरति, राग और द्वेष यह अठारह दूषणों का ईश्वर में अभाव है।

हे राजन्! अब आपको विश्वास हुआ होगा कि जैनी लोग जिस प्रकार ईश्वर को मानते उस प्रकार और कोई भी नहीं मानते हैं। किन्तु अन्य लोग व्यर्थ ईश्वर मानने का दावा करते हैं।

ईश्वर को मान करके उसपर अनेक प्रकार का बोझा डाल देना या ईश्वर को मान करके उसके विचित्र प्रकार के स्वरूप बताकर कलङ्कित करना यह क्या ईश्वर को मानना है? नहीं। कदापि नहीं। यह भक्तों का काम नहीं है। यह काम तो कुभक्तों का है।

इस प्रकार बड़े विस्तार से ईश्वर का स्वरूप सुनतेही राजा का चित्त निःसंशय होगया। और अन्य वादियों के मुंह उतर गये। इस सभा में सूरिजी की जय होगई। सूरिजी ने बादशाह के सन्मुख ब्राह्मणों को मूक बनाकर यश स्तंभ गाड़ दिया। इसके बाद बादशाह स स्तुति के भाजन होकर सूरीश्वर अपनी शिष्य मण्डल के साथ उपाश्रय में पधारे।

इस समय में सूरीश्वर ने वाचक पद का नन्दिमहोत्सव करवाया, जिसमें अकबर बादशाह के अबुलफयज नामक मंत्री ने अधिक द्रव्य का व्यय किया। सूरीश्वर ने अकबरबादशाह के साथ धर्मचर्चा करने ही में दिवस व्यतीत किए।

अब एक दिन राजा परम प्रसन्न चित्त बैठा था। राजा का चित्त बड़ाही प्रसन्न था। इस समय में सूरीश्वर ने राजा से कहा कि:–'हे नृपेश्वर! आप पृथ्वीपाल हैं। जगत् के सब जीवों की रक्षा करने का दावा रखते हैं। तथापि गो, वृषभ, महीष, महिषी की जो हिंसा आपके राज्य में होती है वह हमें आनन्ददायक नहीं है। अर्थात् जगत् का उपकार करने वाले निरपराधी जीवों की हिंसा करना कदापि योग्य नहीं है। दूसरी बात यह कि आप जैसे सार्वभौम–सौम्य राजा को मृत मनुष्यद्रव्य ग्रहण करना तथा मनुष्य बांधो जाय तब उसका द्रव्य लेलेना यह भी आप की कीर्ति के लिए योग्य नहीं है। अर्थात् ये काम आपकी कीर्ति को हानि पहुंचाने वाले हैं। अत एव हे राजन्! उपर्युक्त कार्य आ।

के लिए उचित नहीं मालूम होते हैं । क्योंकि आपने बहुत द्रव्य की उत्पत्ति के कारणभूत 'दाण' और 'जीजीया' नामका कर त्याग दिया है तो फिर उपर्युक्त कार्यों में आपको क्या विशेष चिन्ता हो सकती है ।

सूरिजीने दिखलाये हुए उपर्युक्त छ कार्य राजाकी तुष्टि को करने वाले हुए । राजा ने अपने अधिकारी देशों में उपर्युक्त छ कार्य बन्द करने की सूचना के आज्ञा पत्र सम्पूर्ण राज्य में भेजवा दिए ।

अकबर बादशाह के आग्रह से सूरिजी ने इस साल का चातुर्मास तो लाहोर ही में किया । जैसे २ आचार्य महाराज के साथ में बादशाह का विशेष समागम होता गया तैसे २ बादशाह के अंतःकरण में विशेष रूपसे ' दया भाव ' प्रगट होता गया । जैसे चन्द्रकी विद्यमानता में आकाश सुशोभित होता है, वैसे श्रीसूरीश्वर की विद्यमानता में लाभपुर (लाहोर) शहर बहुतही देदीप्यमान होता रहा । श्रीविजयसेनसूरि ने बादशाह की सभा में ३६३ वादिओं को परास्त किया । तथा बादशाह ने प्रसन्न होकर श्रीविजयसेनसूरि को ' सवाई ' का खिताब दिया । यह बातें ग्रन्थान्तरों से ज्ञात होती हैं ।

दशवां प्रकरण।

—:o:—

(श्रीहीरविजयसूरिजी की सिद्धगिरि की यात्रा, वहाँ से आकर उन्नतनगर में दो चातुर्मास करना, विजयसेनसूरि का पट्टन आना, हीरविजयसूरि का स्वर्गमन और श्रीविजयसेनसूरि का विलाप ।)

इधर जब श्रीविजयसेनसूरि लाहोर में विराजते थे, उस समय में श्रीहीरविजयसूरि पाटन में चातुर्मास करके सकल दुःखों को ध्वंस करने वाली श्रीशत्रुंजयतीर्थ की यात्रा करने को उत्सुक हुए। चातुर्मास समाप्त होने पर बहुत साधु के समुदायसे वेष्टित श्रीसूरीश्वर सिद्ध-गिरी (शत्रुंजय) पधारे। इस समय में सूरिजीके साथ बहुत देशों के श्रीसंघ भी आएथे, जिन्हों ने नानाप्रकार के द्रव्यों से शासन की प्रभावनायें कीं और देवगुरुभक्ति में सदा तत्पर रहे।

तीर्थाधिराज की यात्रा करने के समय पहिले पहल त्रिलोक के नाथ श्रीऋषभदेव भगवान् को तीन प्रदक्षिणा देते हुए आपने मन, वचन और काया से स्तुति की। यात्रा करने को आए हुए संघ ने भी अतुच्छ द्रव्य से पूजा प्रभावना करके पुण्य उपार्जन कर लिया। यहां पर थोड़े ही रोज रह करके श्रीसूरीश्वर ने यहां से अन्य स्थान को विहार किया।

उन्नतपुरी के श्रीसंघ के आग्रह से आपका उन्नतपुरी में आना हुआ। इस नगर में धर्म का लाभ अधिक समझ कर आपने चातु-र्मास भी यहां ही किया। खेद का विषय इस समय यह हुआ कि यहां पर आपके शरीर में किसी असाध्य रोगने प्रवेश किया और इससे आपको यहां पर चातुर्मास भी करना पड़ा।

इधर हमारे श्रीविजयसेनसूरि लाहोर से विहार करने को उत्कंठित हुए। यहां पर आपने बहुत वादियों से जय प्राप्त किया, फिर यहां से विहार करके पृथ्वीतल को पावन करते हुए आप 'महिमनगर' पधारे। आपने यहां चातुर्मास किया। इस अवसर पर आपके पास उन्नतपुरी से एक पत्र आया। उसमें यह लिखा गयाथा कि-'परमपूज्य श्रीहीरविजयसूरि महाराज के शरीर में व्याधि है, और आप जल्दी यहाँ आइए।' पत्रको पढ़ते ही सब मुनिमण्डल के अन्तःकरणों में बड़ा दुःख उत्पन्न हुआ। बस! शीघ्रही यहां से सब लोग उन्नतपुरी को प्रस्थानित हुए। मार्ग में छोटे बड़े शहरों में लोग बड़े२ उत्सव करने लगे। क्योंकि आप अकबरबादशाह को प्रतिबोध करके बहुत से अच्छे २ कार्य करके आते थे। बहुत दिन व्यतीत होने पर आप पत्तनं (पाटन) नगर में पधारे।

इधर उन्नत नगर में प्रभु श्रीहीरविजयसूरिजीने जाना कि अब मेरा अन्त समय है। ऐसा समझ करके आपने चौरासी लक्ष जीव योनिके साथ क्षमापना और चार शरण रूप, चारित्र धर्म रूप सुन्दर गृहकी ध्वजा की उपमा को धारण करने वाली, क्रिया करली। संलेखना और तपके निर्माण से अपनी आत्मा को क्षीण बल जान करके श्रीहीरविजयसूरिजी ने अपने सब मुनिमण्डल और श्रद्धालु श्रावकों को एकत्रित किए। सबके इकट्ठे होने पर आपने अन्तिम उपदेश यह दिया कि:—

हे श्रद्धालु मुनिगण! थोड़े ही समय में मेरी मृत्यु होने वाली है। इस मृत्यु से मुझे किसी बात की चिंता नहीं है। क्योंकि इस मरण का भय नाश करने के लिये तीर्थंकर जैसे भी समर्थ नहीं हुए। कहा भी है कि—

तित्थयरा गणहारी सुरवइणो चक्किकेसवा रामा ।
संहरिआ हयविहिणा का गणणा इयर लोगाणं ?॥१॥

अर्थात्—तीर्थंकर, गणधर, देवता चक्रवर्ती, केशव, राम आदि, सभी इस प्रकार मृत्यु को प्राप्त हुए तब इतर लोगों का कहना ही क्या है ?

जब ऐसी ही अवस्था है तो फिर क्यों मुझे दुःख हो ?

हे मुनिगण ! इस संयम की आराधना में भी आप लोगों को को किसी तरह की चिंता नहीं है । क्योंकि पट्टधर श्रीविजयसेन-सूरि मेरे स्थान पर मौजूद हैं । धीर, वीर, गंभीर श्रीविजयसेनसूरि तुम्हारे जैसे पण्डितों के द्वारा मुख्य कर सेवनीय है । (इस अवसर पर समस्त साधुओं ने 'तहत्ति-तहत्ति' करके इस आज्ञा को शिर पर धारण किया) । हे मुनिगण ! श्रीविजयसेन सूरिकी आज्ञा को मानते हुए सब कोइ प्रेम भाव से रहकर परमात्मा वीर के शासन की उन्नति करने में कटिबद्ध रहना ।"

बस ! सब साधुओं को इस प्रकार हितशिक्षा दे करके अनशन करने की इच्छा करते हुए सूरीश्वरने कहा कि—"महर्षिओं का यही मार्ग है कि आयुष्य के अन्त में भवदुःखको नाश करने वाला अनशन करे" साधु लोग मना करने लगे और दुःखी होने लगे तब पुनः सूरिजी ने कहा कि-" हे महात्मागण ! मोक्ष के हेतुभूत कृत्य में आप लोग बाधा मत डालो" इत्यादि वचनों से, अपने शिष्य मण्डळ के आग्रह का निवारण करके आप अनशन करने को प्रस्तुत होगए ।

इस क्रिया को देखते हुए शिष्य लोगमें से कइ लोग मूर्च्छित होने लगे । कइ लोग कल्पांत करने लगे । सूरीश्वर ने शिष्यों के कल्पांत को हठा करके श्रीपञ्च परमेष्टिकी साक्षी से मतिउत्सूकता

के साथ अनशन कर लिया । इस समय में श्राद्ध वर्ग ने जो महोत्सव किया उसका वर्णन इस लिखनी से होना असम्भव है ।

इसके पश्चात् मोक्ष सुख को देने वाला नमस्कार (नवकार) मंत्र का ध्यान करते हुए, मन-वचन-काया से किये हुए पापों की निंदा करते हुए, प्राणि मात्रमें मैत्री भावको धारण करते हुए, शरीर का भी ममत्व को त्याग करते हुए श्रीहीरविजयसूरीश्वर ने सं-१६५२ मिती भाद्रपद शुक्ल एकादशी के दिन इस भवसंबंधी मलीन शरीर को त्याग करके देवयोनि का मनोज्ञ शरीर धारण किया ।

अब श्रीहीरविजयसूरिजी इस लोक से चले गए । आपने देव लोक को भूषित किया । श्रीसूरीश्वर का देहान्त होने पर इस नगर के समस्त संघने इस मृत शरीर को अनेक प्रकार के चन्दनादि सुगन्धित पदार्थों से विलेपन किया । एक विशाला-नामक शिबिका को बना करके उसमें उस मृत शरीर को स्थापन किया । शोक चित्त वाले हजारों मनुष्यों ने संस्कार भूमि में ले जा कर चन्दनादि काष्ट से उस शरीर का अग्नि संस्कार किया ।

इसके उपरान्त इस उन्नत नगर से श्रीसूरीश्वर स्वर्ग गमन के समाचार पत्र ग्राम ग्राम भेजे गये-जब पाटन नगर में श्रीविजयसेन सूरीजी के पास यह दुःख दायक समाचार आया और जब वे उसे पढ़ने लगे तो उनका हृदय अकस्मात् भर आया । सब साधुमण्डल बड़ा दुखी हुआ । पवित्र गुरु महाराज के विरह से खेदकी सीमा रही नहीं । हमारे श्रीविजयसेनसूरिजी सखेद गद गद वाणी से बोलने लगेः-

" हे तात ! हे कुलीन ! हे अभिजात ! हे ईश ! हे प्रभो ! आप मुझ से बार २ यह कहते थे कि ' तूँ मेरे हृदय में है ' यह

सब 'अजागलस्तनवत्' हो गया। हे प्रभो! मैं लाहौर से ऐसा समझ करके निकलाथा कि 'गुरु वर्य के चरण कमल में जाकर सेवा करूंगा। परन्तु हे नाथ आपने तो जरासा भी विलंब नहीं किया। हे स्वामिन्! आप के मुख कमल के आगे रहने से—आप के चरणारविंद में रहने से मेरी जो शोभा थी वह शोभा अब आपके विरह से 'गगनवल्ली' के समान होगई।

हे भगवन्! अब आपके बिना मैं किसके प्रति महाराज साहेब! महाराज साहेब! कहता हुआ विद्याभ्यासी बनूंगा। हे निर्मेश! आपके मुख कमल को देखने से मुझे जो रति होती थी वह रति हे प्रभो! अब किस तरह होगी? हे प्रभो! 'तू जा' 'तू कह' 'तू आव' 'तू भण' इत्यादि आप के कोमल वचनों से मेरा अंतःकरण जो फूल जाता था अब वह आनंद मुझे कैसे प्राप्त होगा? और उस कोमल शब्दों से मुझे कौन पुकारेगा? हे प्रभो! अब आपकी आज्ञा के अभाव में मै किसकी आज्ञा को अपने मस्तक पर धारण करूंगा? हे स्वामिन्! आप के अस्त होनेसे अब कुपाक्षिक लोग बिचारे भव्य जीवों के अंतःकरण में अपने संस्कारों का प्रवेश कराकर अन्धकार को फैला देंगे। हे प्रभो! आप जैसे प्रकाशमय स्वामी के अभाव में हमारे भरतक्षेत्र के लोग अब किस पवित्र पुरुष को अपने अंतःकरण में स्थापन करके प्रकाशित होंगे। हे गुरुवर्य! जैसे कल्पवृक्ष समस्त जनको सुखकर है। वैसे आपका और अकबर बादशाह का संग समस्त जगत को लाभ दायक था। क्या! अब आपके विरह से प्रजा को वह सुख फिर कभी भी होने वाला है? हे कृपानाथ! आपने कृपारूपी सुन्दरी के साथ अकबर बादशाह की शादी करादी है किन्तु इस दम्पती की जोड़ विरह रहित न रहो, यही मैं चाहता हूं। हे गुरो! आपकी कीर्तिलता

जब तक सूर्य चन्द्रमा का प्रकाश है तब तक संसार में रहेगी। क्योंकि आपके वाणी रूप प्रदीप से सोद्यम होकर श्रीअकबर बादशाह ने श्रीशत्रुंजयतीर्थ जैनों के हस्तगत किया है। हे विभो! दीपक के अस्त होने से अन्धकार फैल जाता है वैसे आप जैसे सूर्य के अस्त होने से अब कुमति लोग अपने अन्धकार को फैलावेंगे। यही मुझे दुःख है। हे पितः! आपका उत्कृष्ट चारित्र— आपकी संयम आराधना, सचमुख निवृत्ति पदको ही देने वाली थी। तथापि आप देवगत हुए। इसका कारण इस कलिकाल की महिमा ही है।

हे प्रभो! 'तप-जप-संयम-ब्रह्मचर्य इत्यादि मोक्ष कृत्य है'। 'साधु धर्म मुझे बहुत प्रिय मालूम होते हैं' इत्यादि, जो आप कहते थे वह सब व्यर्थ होगया। क्योंकि आप तो स्वर्ग में चलेगए। यदि आपको तपादि प्रिय ही थे तो स्वर्ग में क्यों आप पधारे। हे मुनीन्द्र! जो कोई आपका नाम स्मरण करता है। जो व्यक्ति आपका ध्यान करता है उनको आप साक्षात् हैं। आप उसी प्रकार श्रद्धालुवर्ग के लिये प्रत्यक्ष हैं जैसे मित्र के लेखाक्षरों को देखकर लोग उसका मिलना प्रत्यक्ष समझते हैं।

इस प्रकार बहुत विलाप करके श्रीविजयसेनसूरि शान्त हुए। और फिर महात्मा पुरुष ने आत्म-सत्व को निवेदन करते हुए शोक को भी शान्त किया।

श्रीहीरविजयसूरि जी के देहान्त होने से श्रीतपगच्छ का समस्त कार्य श्रीविजयसेनसूरिही के शिरपर आपड़ा। दिन प्रति दिन [illegible] की शोभा श्रीहीरविजयसूरि के समय ही की तरह बढ़ने [illegible]। मिथ्यात्वियों का जोर जरा भी नहीं बढ़ सका। जैनधर्म की पताका बड़ी जोर से फहराती ही रही और श्रीहीरविजय-

सूरि में जैन शासन की प्रभुता रूप जो लक्ष्मी थी वही श्रीविजय-सेनसूरि ने प्राप्त की।

ग्यारहवां प्रकरण।

(श्रीविजयसेनसूरि की कीहुई प्रतिष्ठाएं। तीर्थयात्राएं। भूमि में से श्रीपार्श्वनाथ प्रभू का प्रगट होना। श्रीविद्याविजय (विजयदेवसूरि) को आचार्यपद एवं भिन्न २ मुनिराजों को भिन्न २ पद प्रदान होना इत्यादि)।

अब श्रीतपगच्छ रूपी आकाश में सूर्य समान श्रीविजयसेन-सूरि भव्य जीवों को उपदेश देते हुए विचरने लगे। श्रीपत्तन नगर से विहार करके स्तम्भ तीर्थ (खंभात)के लोगों के निवेदन से आपका खंभात आना हुआ। यहांपर आपका एक चातुर्मास हुवा। खंभात से विहार करके आप अहमदाबाद पधारे। यहां के लोगों ने बड़ा उत्सव किया। सुना—चांदी के द्रव्यसे सूरीश्वर की पूजा की। यहां एक 'मोटक' नामक श्रावक, जोकि बड़ा श्रद्धावान था, रहता था। इस महानुभाव ने बड़े उत्सव के साथ श्रीसूरीश्वर के हाथ से जिन बिंब की प्रतिष्ठा करवाई। इस प्रतिष्ठा के समय में सूरिजी ने पं० लब्धिसागर मुनि को उपाध्याय पद प्रदान किया। यहांपर एक 'बच्छा' नामक जौहरी ने भी सूरीश्वर द्वारा जिन बिंब की प्रतिष्ठा करवाई। इन प्रतिष्ठाओं के अतिरिक्त पंचमहाव्रत अणुव्रत ब्रह्मव्रत आरोपणादि बहुत से शुभकार्य सूरीश्वरने यहांपर किए। यहांपर सूरिजी के चातुर्मास करने से सारे नगर के लोगों को आनंद का अपूर्व लाभ हुआ। इस समय का सम्पूर्ण वृतान्त

कहने के निमित्त एक बड़े ग्रंथ की आवश्यकता है । सारांश यह कि यह वर्ष भी ऐसा हुआ कि जिससे सारे देश के लोग परम प्रसन्न रहे । अहमदाबाद शहेर में ही चातुर्मास समाप्त करके आप कृष्णापुर (कालुपुर) पधारे ।

एक दिन कालुपुर में बिराजते हुए सूरीश्वर ने परम्परा से यह बात सुनी कि:-" शहेर में ' ढींकु ' नामक पाटक (पाडे) में श्रीचिंतामणि पार्श्वनाथ भगवान किसीने भूमि में स्थापन किए हुएहैं" । लोगों की इच्छा प्रभु को बाहर निकालने की हुई । लेकिन राजाज्ञा के बिना कैसे निकाल सकते थे ? इस समय अहमदाबाद में काजी हुसेनादि रहते थे । इनसे मुलाकात करके श्रीसूरीश्वरने श्रीप्रभु को बाहर निकालने की आज्ञा दिलवाई ।" इसके बाद सं० १६५४ में शिष्ट पुरुष को स्वप्न देकरके श्रीप्रभु चिंतामणिपार्श्वनाथ प्रभु प्रगट हुए । प्रभु के प्रगट होने से चारों ओर आनन्द छागया । भगवान् के दर्शन से लोगों की इष्टसिद्धिएं होने लगी । इस प्रतिमा को श्रीसंघने सिकन्दरपुर में बड़े उत्सव के साथ स्थापन किया ।

एक दिवस श्रीसूरिजी अपने शिष्यमण्डल के साथ श्रीपार्श्वनाथ प्रभु के मन्दिर में पधारे और इन्होंने जो प्रभुकी स्तुति की । इसका थोड़ासा उल्लेख यहां पर किया जाता है ।

" जिसका नाम स्मरण करने से श्वास-भगन्दर-श्लेष्म और क्षयादि रोग नाश होजाते हैं । ऐसे पार्श्वनाथ प्रभु रक्षा करो ।

' जिसका नाम स्मरण करने से समस्त प्रकार के चोर भाग जाते हैं ऐसे पार्श्वनाथ प्रभु रक्षा करो ।

जिसका नाम स्मरण करने से युद्ध में जय होता है, जिसके · से भवी प्राणी भय से छूट जाते हैं, जिसका नाम

स्मरण करने से अपत्य रहित पुरुष भी अद्भुत पुत्र की प्राप्ति क-
रता है-ऐसे पार्श्वनाथ प्रभु रक्षा करो।

" जिसका नाम स्मरण करने वाला पुरुष अनेक प्रकार के घोड़े-
हाथी-रथ-पदाति आदि पदार्थ युक्त राज्य को प्राप्त करता है-ऐसे
पार्श्वनाथ प्रभु रक्षा करो।

" जिसका नाम स्मरण करने से मंत्र-तंत्रादि की विधिएं भी
सिद्ध होती है-ऐसे पार्श्वनाथ प्रभु रक्षा करो "।

" जिसका नाम स्मरण करने से असाध्य विद्याएं भी साध्य
होसकती है-ऐसे प्रभु रक्षा करो "।

" जिसके नाम स्मरण से, अनेक तपस्या से प्राप्त होने वाली,
अष्टसिद्धि प्राप्त होती है-ऐसे पार्श्वनाथ प्रभु रक्षा करो "।

" जिसके ' ओं-ह्रीं-श्रीं-अर्हं श्रीचिंतामणिपार्श्वनाथाय नमः
इस प्रकार के मंत्र से सारा जगत् वश होजाता है-ऐसे
पार्श्वनाथ प्रभु इस जगत् की रक्षा करो "।

इत्यादि प्रकार से स्वच्छ और निर्मल हृदय पूर्वक श्रीपार्श्वनाथ
प्रभु की स्तवना करके इस प्रभु का नाम सूरीश्वर ने ' श्रीचिंता-
मणि पार्श्वनाथ ' स्थापन किया। श्रीसंघ के आग्रह से सूरिजी ने
चातुर्मास सिकंदरपुर में ही किया।

इस सिकन्दरपुर में एक ' लहुआ ' नामक सुश्रावक रहता
था, जो बड़ा बुद्धिमान् और धनाढ्य था। इस महानुभाव ने अपने
द्रव्य से श्रीशान्तिनाथ प्रभु का एक बिंब बनवाया और उत्सव के
साथ श्रीसूरीश्वर के हाथ से प्रतिष्ठा करवाई। इस प्रतिष्ठा के स-
मय श्रीनन्दिविजय मुनीश्वर को " वाचक " पद दिया गया और
विद्याविजयमुनि जी को " पण्डित " पद। अब सूरिजी की

इच्छा सूरिमंत्र की आराधना करने की हुई और इसी विचार से आपने लाटापल्ली (लाडोल) के प्रति विहार भी किया ।

लाडोल में आकर आपने छ विगय (घृत-दुग्ध-दही-तेल-गुड़ और पक्वान्न) का त्याग किया । छट्ठ-अट्ठमादि तपस्या करना आरंभ की । तथा पठन-पाठनादि का कार्य अपने शिष्यों को दे करके वचनोच्चार करना बन्द करके ध्यानानुकूल वेष तथा शरीरावयवों को रख करके आप सूरिमंत्रका स्मरण करते हुए ध्यानमें बैठ गए ।

संपूर्ण ध्यान में आरूढ होते हुए जब तीन मास पूरे हो गए तब एक यक्ष बद्धाञ्जली होकर,सूरिजी के सामने आ खड़ा हुआ । और कहने लगा 'हेप्रभो ! हे भगवन् ! आप पण्डितवर्य श्रीविद्याविजय जी को स्वपट्ट पर स्थापन करो । यह विद्वान् मुनि आपही के प्रतिबिंब रूप हैं । ' बस ! इतने ही शब्द कर वह अन्तर्ध्यान हो गया । इन बचनों को सुनते हुए सूरीश्वर बहुत प्रसन्न हुए । जब सूरिजी ध्यान में से बाहर निकले अर्थात् ध्यान से मुक्त हुए तब लोगों ने बड़ा उत्सव किया । इस सालका चातुर्मास आपने लाडोलई में किया । इसके उपरान्त यहां से विहार करके पृथ्वी तलको पवित्र करते हुए आप इडर पधारे । वहां एक बड़ा गढ़ है, यहां पर आकर श्रीऋषभदेवादि प्रभु के, दर्शन करके सब मुनि गण कृतकृत्य हुए । यहां से आप तारंगाजी तीर्थ की यात्रा करने को पधारे । तारंगा में श्रीअजितनाथ प्रभुकी यात्रा करके फिर सौराष्ट्र देश में पधारे । सौराष्ट्र देश में आते ही आपने पहिले पहल तीर्थाधिराज श्रीशत्रुञ्जय की यात्रा की । और यहां से 'ऊना' पधारे । ऊनामें जगद्गुरु श्रीहीरविजय सूरीश्वरकी पादुका की उपासना करके पुनः सिद्धाचल को (शत्रुञ्जय) पधारे । यात्रा करके खंभात के श्रीसंघ के अत्याग्रह से आप का खंभात आना हुआ ।

खंभात में आपने गंभीर वाणी से देशना देनी आरम्भ की। इस देशना में मुख्य विषय भगवत्प्रतिष्ठा-तीर्थ यात्रा-और बड़े बड़े उत्सवों से शासन प्रभावना ' आदि रक्खे थे। सूरीश्वर के उपदेश से अति श्रद्धावान्—धनवान्—बुद्धिमान् ' श्रीमल्ल ' नामक श्रावक के मनमें यह विचार हुआ कि ' लक्ष्मीलता का यही फल है कि यह सुकृत में लगाई जाय। क्योंकि जिस समय इस संसार से हम चले जायँगे, उस समय खाली हाथही जायेंगे। न तो भाइ काम आवेगा, न पिता, न माता और न लक्ष्मी। लक्ष्मी वही सार्थक है जो इस हाथ से धर्म कार्यों में लगाई जायगी ' बस! यही विचार करके ' श्रीमल्ल ' ने आचार्य पदवीका महोत्सव करना निश्चय किया।

गुजरात—मारवाड़-मालवा आदि देशो में कुंकुम पत्रिकाएं भेजवा दी गई। इस महोत्सव के ऊपर अनेक देश के श्रावक इकट्ठे होने से यह नगर पञ्चरंगी पाघ से सुशोभित होने लगा।

श्रीमल्ल श्रावक ने महोत्सव आरंभ किया। अपने यहां पर एक सुन्दर मण्डप की रचना की। शहर के समस्त राजमार्ग साफ करवाए। सुगन्धित जल से नगर में छिड़काव हो गया। घर घर में नए तोरण बांधे गए। घरकी दिवालें रंग विरंग से सुःशोभित की गइ। वृक्षों के ऊपर ध्वजा—पताकाएं लजाइ गईं। देव—मन्दिर भी अत्युत्तम रीति से सजाए गए। देखते ही देखते में सम्पूर्ण नगर अमरापुरी की उपमा लायक वन गया।

आचार्य पदवी के दिन ' श्रीमल्ल ' शेठ अपने भ्रातृपुत्र शोभचन्द्र को साथ में लेकर, पञ्चवर्णों के वस्त्र धारण करके अनेक प्रकार के आभूषणो से अलंकृत होकर श्रीसूरिजीके पास आए और इस तरह प्रार्थना करने लगेः—

" हे पूजपाद ! सूरि पदकी स्थापना का समय निकट आया है आप कृपा करके मेरे घरको पवित्र करिये " ।

इसके पश्चात् तुरन्तही श्रीसूरीश्वर अनेक साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका के वृन्द के साथ वहां पधारे जहां कि आचार्य पदवी देने के लिये मण्डप की रचना हुई थी । सं० १६५६ मिती वैशाख शुक्ल ४ सोमवार के दिन उत्तम नक्षत्र में श्रीविद्याविजय मुनीश्वर को 'सूरि' पद अर्पण किया गया । इस नए सूरिजी का नाम ' श्रीविजयदेवसूरि ' रक्खा गया ।

' श्रीमल्ल ' नामक श्रावकने इस समय अभूतपूर्व दान किया । वाद्यादि सामग्रिओं की तो सीमाही नहीं थी । बाहर से आए हुए अतिथियों को उत्तमोत्तम भोजन देकर स्वामिवात्सल्य किया गया । इस उत्सव के समाप्त होने के भीतरही श्रीसंघ के आग्रह से श्रीसूरीश्वर ने श्रीमेघविजयमुनि जी को उपाध्याय पद दिया । इसके बाद थोड़ेही दिनों में 'कीका' नामक ठक्कुर के यहां श्रीप्रभुप्रतिमा की प्रतिष्ठा की और उसी समय विजयराज मुनीश्वर को भी उपाध्याय पद दिया गया । इस तरह ' श्रीमल्ल ' और ' कीका ' ठक्कुर ने समस्त संघ को संतुष्ट किया ।

इसी शहर में चातुर्मास पूर्णकर सूरिजी फिर अणहिलपुर पाटन पधारे । इस नगर में चातुर्मासान्त में श्रीविजयसेनसूरि की इच्छा श्रीविजयदेवसूरिजी को गच्छ की समस्त आज्ञा देने की हुई । इस कार्य के निमित्त महान् परीक्षक पं० सहस्रवीर नामक श्रावक ने एक बड़ा उत्सव किया । इस उत्सव पूर्वक सं० १६५७ मिती पौष वदी ६ के दिन उत्तम मुहूर्त में श्रीविजयदेवसूरीश्वर को संपूर्ण सिद्धान्त संबन्धी वाचना देने की तथा तपगच्छ का आधिप-

त्मिक आज्ञा दी गई। इतनाही नहीं बल्कि उस आज्ञा रूपी नगरी के किल्लेभूत उत्तम सूरिमंत्र भी अर्पण किया गया।

अब अणहिलपुर पाटण से विहार करके सूरिजी श्रीसंखेश्वर जी पधारे। यहां पर श्रीसंखेश्वरजी पार्श्वनाथ की यात्रा की और नयविजय नामक मुनि को लुंपाकमत त्याग करा कर गुरु शिष्य का आश्रयण करते हुए उपाध्याय पद अर्पण किया। इस समय अनेक घोड़े-हाथी-उंट-पैदल वगैरह आडंबर के साथ मारवाड देश से महान् संघपति हेमराज, श्रीसंघकी साथ में शत्रुञ्जय तीर्थकी यात्रा को आते हुए श्रीसंखेश्वर में आकर बड़े उत्सव के साथ मुनीश्वरों का दर्शन करने को थोड़े रोज ठहर गए।

यहां से विहार करके ग्रामानुग्राम विचरते हुए, भव्य प्राणिओं को वीर परमात्माकी वाणी का लाभ देते हुए सूरीश्वरजी अहमदाबाद पधारे।



बारहवा प्रकरण।

(अनेक प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा। तेजपाल नामक श्रावक का बडा भारी संघ निकालना। रामसैन्य तीर्थ की यात्रा। मेघराज मुनिका लुंकामत त्याग करना। तीर्थाधिराजकी यात्रा और श्रीविजयदेवसूरिजी का पृथक् विचरना इत्यादि)

अहमदाबाद के श्रावकों ने श्रीसूरीश्वरजी की वाणीसे अपूर्व लाभ उठाया। इधर प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठा होने लगी। एक पुण्यपाल नामक श्रावक ने ५१ अंगुल प्रमाण की श्रीशीतलनाथ स्वामी की प्रतिमा की, तथा उनके भाइ ठाकर ने ७२ अंगुल प्रमाण की

श्रीसंभवनाथ स्वामी की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवाई । इसी के साथ २ एक नाकर नामक श्रावक ने भी ५१ अंगुल प्रमाण की श्रीसंभवनाथ स्वामी की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवाई । इस अवसर पर स्तम्भतीर्थ के रईस वजीआ (व्रजलाल) नामक श्रावक ने (जिसने की पहिले भी श्रीपार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिष्ठा करवाई थी) एक पार्श्वनाथ प्रभु की तिरसठ अंगुल प्रमाण की मूर्ति बनवा कर प्रतिष्ठा करवाई ।

इस पार्श्वनाथप्रभु की महिमा अपूर्वही होने लगी । जो व्यक्ति स्वर्ग और मोक्ष को देने वाले इस पार्श्वनाथप्रभु के नाम-मंत्र का सर्वदा अपने अन्तःकरण में स्मरण करने लगा, उसको आधि—व्याधि-विरोध-समुद्रभय- भूत—पिशाच—व्यन्तर—चोर आदि सभी प्रकार के भय नष्ट होने लगे । बात भी ठीक है । 'श्रीपार्श्वनाथाय नमः ' इस मंत्रमें ही इस प्रकार की शक्ति स्थापित है। पूर्वाचार्योंने भी यही कहा है किः———

आधिव्याधिविरोधिवारिधियुधि व्यालस्फटालोरगे ।
भूतप्रेतमलिम्लुचादिषु भयं तस्येह नो जायते ॥
नित्यं चेतसि ' पार्श्वनाथ ' इति हि स्वर्गापवर्गप्रदं ।
सन्मन्त्रं चतुरक्षरं प्रतिकलं यः पाठसिद्धं पठेत् ॥१॥

इसके सिवाय चातुर्मास समाप्त होने के पश्चात् ' सिंघजी ' नामक श्रेष्ठीने अजितनाथ प्रभुकी प्रतिमा स्थापित करवाई।'श्रीपाल' नामक जौहरीने ६७ अंगुल प्रमाण की पार्श्वनाथकी प्रतिमा प्रतिष्ठित करवाई । जिसका नाम 'जगद्वल्लभ' रक्खा । एवं स्तम्भ तीर्थ के रईस तेजपाल नामक श्रावक ने ६६ अंगुल प्रमाण की आदीश्वर भगवान् की प्रतिमा स्थापित करवाई । पट्टण नगर निवासी तेजपाल सोनीने ४७ अंगुल प्रमाण की श्रीसुपार्श्वनाथ प्रभुकी प्रतिमा

निर्मित करवाई। इन ऊपर कहीं प्रतिमाओं और अन्य अनेक प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा श्रीविजयसेन सूरीश्वर ने अपने हाथ से की।

इस साल में श्रीसूरीश्वर के उपदेश से श्रीतेजपाल सोनी ने संघपति होकरके तीर्थयात्रा करने को संघ निकाला। हजारों मनुष्य को साथ लेकर श्रीगुरु आज्ञा प्राप्त कर संघपति यात्रा के लिये चले। मार्ग में जहां २ श्रावक का घर आता था, वहां २ प्रत्येक घर में एक २ 'महिमुन्दिका' देते थे। पहिले पहल इस संघ ने तीर्थाधिराज श्रीशत्रुञ्जय तीर्थ की यात्रा की। इसके पश्चात् सोरोही—राणपुर-नारदपुरी-वरकाणा आदि तीर्थोंकी यात्रा करके मारवाड में स्थित प्रायः समस्त तीर्थों की यात्रा करके सारासंघ अपने देश में आया। अपने नगर आने के बाद संघपतिने श्रावक के प्रत्येक घरमें एक २ लड्डू और रुपये युक्त एक२ थाल की प्रभावना की। यह सब प्रभाव श्रीविजयसेनसूरिजी का ही था। क्योंकि तीर्थ यात्रा—स्वामिभाईकी भक्ति आदि शासन प्रभावना के कार्य करने से कैसे २ फलकी प्राप्ति होती है? यह सब गुरु महाराज के उपदेश से श्रेष्ठी ने जाना था।

श्रीविजयसेनसूरि जी के अहमदाबाद में रहने से लोगों को धर्मोपदेश का अपूर्व लाभ हुआ। लोगों ने धर्मकार्यों में द्रव्य व्यय करने में जरा भी संकोच न किया। इस उदार चारित का पूरा वर्णन करना कठिन है। सं० १६५९ के एकही चातुर्मास में श्रावकों ने 'एक लक्ष' महि मुन्द्रिका व्यय किए।

इसके बाद सूरीश्वर की इच्छा राधनपुर जाने की हुई। यहां से चलकर पहिले श्रीसंखेश्वर पार्श्वनाथ की यात्रा करके सूरीश्वर ने राधनपुर के समीपभूमि को प्राप्त किया। नगर के श्रावकों ने बड़े उत्साह के साथ सूरिजी का सामेळा किया।

यहां के लोगों को भी धर्मदेशना का अपूर्व लाभ मिला। सूरि जी के समुदाय की, ज्ञान-ध्यान-तप-संयमादि क्रियाओं का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ता था कि उनको देखते ही लोगों को धर्मकी ओर अभिरुचि हो जाती थी। आपके सत्संग से उपधान मालारोपण—चतुर्थव्रत-बारहव्रत आदि अनेक प्रकार के नियम श्रावकों ने ग्रहण किए थे। इसी तरह सारा चातुर्मास सूरीश्वर जी के वाग्विलास सेही समाप्त हुआ।

कुछ काल पहिले श्रीहीरविजयसूरीश्वर के समय में (सम्वत १६२९ के साल में) रामसैन्य नामक नगर की भूमि में से एक मनोहर श्रीऋषभदेव भगवान् की प्रतिमा निकली हुई थी। यहां के श्रावकों ने इस प्रतिमा को इसी स्थान में एक भूमिगृह में स्थापन की थी। इस बात की प्रसिद्धि जगत में पहले ही से फैल चुकी थी।

इस तीर्थ की यात्रा करने के लिये राधनपुर का श्रीसंघ श्रीसूरीश्वर के साथ में चला। क्रमशः चलते हुए बहुत दिन व्यतीत होनेपर इस तीर्थ में वह संघ आपहुंचा। श्रीऋषभदेव भगवान के दर्शन करके सब लोग कृतकृत्य हो गए। श्रीसंघ ने भी बहुत द्रव्य का व्यय करके स्थावर-जंगम तीर्थ की अच्छी तरह भक्ति की। यहां की यात्रा करने से लोगों को अपूर्व भाव उत्पन्न हुए। फिर लौट करके सब लोग राधपुर आए। सूरीश्वर आदि मुनिवर भी उस समय वहां पधारे।

राधनपुर में सूरीश्वर के आने के बाद अनेक शुभ कार्य हुए। जिनमें 'वासणजोट' नामक श्रावक का बड़े उत्साह के साथ नए मंदिर की प्रतिष्ठा कराना, एक मुख्य कार्य था। कुछ दिन पर ठहर करके फिर आप 'बड़ली' नगर में गए। यहां श्री

विजयदानसूरि और श्रीहीरविजयसूरि के दो कीर्ति स्तंभ बड़े ही आश्चर्यकारी थे। इसकीर्ति स्तम्भके आगे प्रत्येक भाद्रशुक्ल एकादशी के दिन वटपल्ली और पत्तन नगर के लोग इकट्ठे होकरके बड़ा उत्सव करते हैं। यहां आकरके विजयसेनसूरि ने इस कीर्ति स्तम्भ के सामने गुरुवर्यों की स्तवना की। यहां से विहार करके पत्तन नगर के श्रावकों के आग्रह से आप पत्तन पधारे।

दूसरी ओर, इस पत्तननगर में विराजते हुए श्रीविजयदेवसूरि के वाग्विलास से उत्साहित होकर लुंकामत का स्वामी मुनि मेघराज (जो पहिले पहल लुंकामत को त्याग करने वाले मेघजी ऋषि का प्रशिष्य था) के मनमें अपने मतको त्याग करने की इच्छाहुई। वह श्री-विजयसेनसूरिजी के चरण कमल में आया। विजयसेनसूरिजी की देशना सुनने से इन महानुभावकी श्रद्धा और भी पक्की हुई। इसके बाद मुनि मेघराज ने लुंका मत को त्याग किया और श्रीतपागच्छरूप वृक्ष की शीतल छाया में रहने लगा। बड़े समारोह के साथ तपागच्छ में यह दीक्षित किए गये।

एक दिन इस पत्तननगर के एक 'कुमरगिरि' नामक पुर के श्रावकवर्ग ने अतीव आग्रहपूर्वक विनति की—'हे कृपालु महाराज! आप के चरणकमल से हमारा छोटा पुर पवित्र होना चाहिये।' लाभ का कारण देख करके मुनिवरों ने आषाढ़ शुक्ल प्रतिपदा के दिन इस पुर में प्रवेश किया। इस पुर में चातुर्मास करने से यहाँ के लोगों को धर्म-कृत्य-करने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ। पत्तननगर के लोग भी इस उपदेश का लाभ सर्वदा ले सकते थे।

चातुर्मास समाप्त होने पर श्रीसूरीश्वरजी श्रीसंखेश्वर पार्श्वनाथ की यात्रा को पधारे। पुनः श्रीसंघ के आग्रह से आपका पत्तननगर

आना हुआ। यहां पर फाल्गुण चातुर्मास रह करके आपने स्तम्भ-तीर्थ जाने के लिए प्रयाण किया।

इस प्रकार पृथ्वी तलको पावन करते हुए चाणसमा-राजनगर-आदि की यात्रा करते हुए आपने स्तम्भतीर्थ में प्रवेश किया। आपके उपदेश से यहां के लोगों ने भी प्रतिष्ठादि बहुत से कार्य किये। श्रावकों के आग्रह से चातुर्मास की स्थिति सूरिजी ने यहांही की। चातुर्मास व्यतीत होने के बाद आपने अकबरपुर नामक शाखापुर में आकर चातुर्मास किया। तदनन्तर विहार करके आप गन्धारपुर में पधारे।

गन्धार बन्दर में भी आपने बहुतसी प्रतिष्ठाएं की, और उपदेश द्वारा लोगों को लाभ प्रदान किया। यहां से आप विहार करके भृगु-कच्छ-रानेर आदि होते हुए तापीनदी को नावसे उल्लंघन करके सुरत पधारे। यहांपर भी प्रतिष्ठाएं की और चातुर्मास की स्थिति समाप्त करके विहार किया। स्तम्भ तीर्थ आदि स्थानों में होते हुए श्रीविजयदेवसूरि के सहित आप श्रीसिद्धाचल जी पधारे। वहांपर उस समय स्तम्भ तीर्थ-राजनगर-पत्तन-नवीन नगर-द्वीप बन्दिर आदि नगरों से संघ आए हुए थे। इन लोगों को भी सूरिजी के उपदेश से बहुत लाभ मिला। यहां से श्रीविजयसेनसूरि जी ने द्वीप बन्दर के लोगों के आग्रह से द्वीप बन्दर की ओर प्रयाण किया और गुजरात के लोगों के आग्रह से श्रीविजयदेवसूरि को गुजरात में विचरने की आज्ञा दी।

जिस प्रकार कस्तूरी की सुगन्धि फैलाने की कोई आवश्यकता न पड़ती। वह आपही से फैलजाती है। उसी प्रकार सूरीश्वर जी यश-कीर्ति चारों ओर फैलगई। सौराष्ट्र देशमें विचरने से सौराष्ट्रदेश के लोग अपने २ ग्रामों में लेजाने के लिये नित्य प्रार्थना करते

ही रहते थे । सूरिजी का आना द्वीपबन्दर के पास उन्नत नगर में हुआ । उसी स्थानपर परम पूज्य-प्रातःस्मरणीय गुरु वर्य श्रीहीरविजयसूरिजी का देहान्त हुआ था । वहां आपने सबके प्रथम अपने गुरु वर्य की पादुका के दर्शन किये । और उसके बाद फिर उन्नत नगर में प्रवेश किया ।

द्वीपबन्दर से ' मेघजी ' नामक एक व्यवहारी और ' लाड़की ' नामकी उसकी शीलवती भार्या, यह दोनों उन्नत नगर में सूरिजी के दर्शनार्थ आए । वहां आकर उन्होंने श्रीसूरीश्वर के हाथ से प्रतिष्ठा करवाई । यहांपर भी नवीन प्रतिष्ठाओं की धूम मचगई । एक 'अमूला' नामकी श्राविका ने प्रतिष्ठा करवाई । दूसरी द्वीप मन्दिर निवासी ' कालीदास ' नामक श्रावक ने भी करवाई ।

श्रीसंघ के आग्रह से चातुर्मास आपने यहांही किया । चातुर्मास पूर्ण होने के बाद आप ' देवपत्तन ' पधारे । इस नगर में अमरदत्त, विष्णु और लालजी नामक तीन बड़े धनिक रहते थे । इन तीनों ने बड़े समारोह के साथ श्रीसूरीश्वर के हाथ से तीन प्रतिष्ठाएं करवाई । यहां से बिहार करके आप श्रीदेवकुल पाटक(देलवाड़ा) पधारे । यहां भी ' हीरजी ' नामक श्रावक के घर में एक प्रतिष्ठा की और दूसरी ' शोभा ' नामकी श्राविका के घर में ।



तेरहवां प्रकरण ।

(कपितान–कलास–पादरी युक्त फरंगी समुदाय की प्रार्थना । श्रीनन्दिविजयका द्वीपमन्दिर जाना । गिरनारजी की यात्रा । स्वयं श्रीसूरीश्वर का द्वीपमन्दिर पधारना । संखेश्वर की यात्रा । ग्रामानुग्राम विचरना और अन्तिम उपसंहार) ।

जिस समय में श्री विजयसेनसूरीश्वरजी देवकुल पाटक में विराजते थे । उस समय में द्वीप बन्दर के फिरंगी लोग, अपने कपतान (अधिकारी विशेष) कलास (अमात्य विशेष) पादरी (धर्म गुरु) इत्यादि के साथ श्रीसूरिजी के पास आकर प्रार्थना करने लगे:——

"हे गुरुहंस ! हे निर्मल हृदय ! आप द्वीप बन्दिर पधार कर हम जैसे अन्धकार में पड़े हुए लोगों का कुछ उद्धार करिए । कदाचित आप स्वयं न आसकें तो किसी एक उत्तम चेले को भेज करके हमारे हृदयों को शान्त करिये ।"

इस प्रकार फिरंगी लोगों के अत्याग्रह से सुरीश्वर ने अपने नन्दिविजय नामक चत्मत्कारी मुनिको द्वीप बन्दर भेजा । श्रीनन्दिविजयकी कला कौशल्य और चमत्कारिक विद्याओं से लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए । लोगों ने श्रीनन्दिविजय मुनीश्वर का बहुतही सत्कार किया । आपने यहां पर तीन रोज ठहर करके व्याख्यान द्वारा जीवादि नव तत्वों का उपदेश करके लोगो के अन्तःकरणों में बहुत प्रभाव डाला । श्रीसंघ के साथ तीन दिन रह कर आप पुनः महाराज के पास आगए । एक दिन आपने श्रीनेमनाथ प्रभु

की यात्रा के लिये विहार किया। साथ में द्वीप बन्दर का श्रीसंघ भी चला। बहुत दिन व्यतीत होने पर आप गिरनार जी पहुंचे। इस समय गिरनार में 'खुरम' राज्य करता था। यह राजा स्वभाव ही से साधुओं के प्रति बड़ा क्रूर स्वभाव रखताथा। किन्तु श्रीविजयसेनसूरिजी के तपस्तेज से वह भी शान्त हो गया। कहां तक कहा जाय ?। राजा ने सूरीश्वर का बड़ा ही सत्कार किया। एक दिन श्रीसंघ के साथ में सब लोग गिरि पर चढ़े और श्रीसिद्धराज जयसिंह के महामंत्री 'सज्जन श्रेष्ठी' द्वारा निर्माण किये हुए 'पृथिवी जय' नामक प्रासाद में विराजमान श्री नेमीनाथ की मनोहर प्रतिमा के दर्शन करके सब लोग कृतकृत्य हुए। अनेक प्रकार से मुनिवरों ने भाव पूजा और संघने द्रव्यादि से पूजा की। यहां पर कुछ दिन ठहर कर सब लोग देवपत्तन आए। यहां से द्वीप बन्दिर का संघ गुरुवंदन करके स्वस्थान पर चला गया। देवपत्तनमें सूरीश्वरने दो चातुर्मास करके बड़े उत्सव के साथ दो प्रतिष्ठाएँ की। इसके उपरान्त यहां से विहार करके देलवाड़े में पधारे। यहां आनेपर वह फिरंगी लोग जो श्रीनन्दिवि-जय जी को प्रार्थना करके पहले अपने द्वीप बन्दर में ले गये थे उन्होंने यह विचार किया—'श्रीगुरु महाराज वर्तमान देवकुल पाटक में पधारे हुए हैं। तथा जिन के प्रभावसे यहां का संघ यात्रा के लिये गत वर्ष में गया था,—वह भी सकुशल पहुंच गया है। अत एव उस उपकारी महात्मा का पुनः दर्शन करना चाहिये।'

इस प्रकार विचार करके फिरंगी लोग देवकुलपाटक में आए और श्रीगुरु महाराज से प्रार्थना करने लगेः—

"हे गुरो! इस जगत् में हितकारी कार्यों के करने में दक्ष आप ही हैं। आपही आषाढ़ के मेघ की तरह इस जगत्के वत्सल

हैं । अतएव कृपया हमारे साम्राज्य में स्थित द्वीप बन्दर में आप पधारिए । और हमारे मनोरथों को पूर्ण करिये । "

इस प्रकार की अत्याग्रहपूर्ण विनति को सुन कर सूरिजी ने विचार किया कि—' फिरंगी लोगों का इतना आग्रह है । द्वीपबन्दिर के श्रीसंघ का आग्रह तो पहिले से ही है । अतएव वहां पर जाना उचित है । वहां जाने से धर्म-धनका लाभ तो अपने को होगा । और अन्य जीवों को भी बोधि प्राप्त रूप लाभ होगा । फिर इस बन्दर में अभीतक किसी आचार्य का जाना नहीं हुआ है इत्यादि बातें सोच करके श्रीविजयसेनसूरि द्वीप बन्दिर पधारे ।

मार्ग में द्वीपाधिपति फिरंगी ने ' मछुआ ' नामक बाहन को भेजा और उसमें बैठ करके आप पार उतरे । गुरु महाराज के पुर प्रवेश के समय फिरंगी लोगों ने तथा श्रीसंघ ने बड़े उत्साह के साथ अवर्णनीय महोत्सव किया। नित्य व्याख्यान वाणी होने लगी । सब लोग सूरीश्वर के उपदेश रूपी अमृत से अपनी तृषाको शान्त करने लगे । एक दिन फिरंगी लोगों की मुख्य सभा में बड़ी जोर शोर से सूरीश्वर ने सत्य धर्म का प्रति प्रदान किया । अर्थात् इन्होंने यह बात सिद्ध करके दिखाया कि—यदि कोई भी मोक्षमार्ग को साधन कराने वाला धर्म है तो वह जैन धर्म ही है । लोगों के अन्तःकरण में इस बातका निश्चय होगया । समस्त लोग आश्चर्य युक्त होकर यह कहने लगेः-" अहा ! सूरीश्वर जी का कैसा प्रभाव है कि फिरंगी जैसे आचार विहीन लोग भी इनके उपदेश से संतुष्ट होगए । महात्माओं के चातुर्य की क्या बात है ? " कुछ दिन रहकर देवकुल पाटक में आकर सूरीश्वर ने चातुर्मास किया ।

चातुर्मास होने के पश्चात् 'नवानगर' के कितनेही अधिकारी वर्ग के अत्याग्रह से, आप ' भाणवाड ' होते हुए नवानगर पधारे ।

सूरीश्वर के दर्शन करने के लिये 'जाम' राजा भी कभी २ आया करता था। चातुर्मास यहां ही किया।

तदन्तर अनेक नगरों के श्रीसंघ के साथ सूरिजी श्रीसंखेश्वर पार्श्वनाथ की यात्रा करने को पधारे। यहां की यात्रा करके आप अहमदाबाद पधारे। श्रीविजयदेवसूरि जी ने भी आप के साथ ही अहमदाबाद में चातुर्मास किया।

इस वर्ष में अहमदाबाद में बड़ा भारी यह कार्य हुआ कि यहां की जाति में एक बारह वर्ष से विरोध चला आता था। जो कि किसी से भी नष्ट नहीं हुआ था। वह विरोधभी सूरीश्वरकी उपदेश वाणी से नष्ट हुआ और सब लोगों में ऐक्य होगया।

प्रिय पाठक! सर्वदा उपदेश का प्रभाव तबही होताहै कि जब उपदेशक स्वयं उस तरह का आचरण करता हो। यदि स्वयं उपदेश करने वाला अशान्तिका उत्पादक है, तो उनके उपदेश का प्रभाव लोगोंपर जरा भी नहीं हो सकता है। इसी लिये उपदेशकों को चाहिये कि वह प्रथम स्वयं शान्ति-प्रिय बने।

चातुर्मास उतरने के बाद सूरीश्वर ने दो प्रतिष्ठाएं माघ मास में और दो वैशाख में करवाई। फिर दोनों सूरीश्वर पृथ्वी तलको पवित्र करने लगे।

उपसंहार।

पवित्र प्रातःस्मरणीय जगदुपकारी महात्माओं की यह संक्षिप्त जीवनी "श्रीविजयप्रशस्ति काव्य" के आधारपर लिखी गई है। इसकी समाप्ति के प्रथम इतना कहदेना परमावश्यक है कि श्रीविजयसेनसूरीश्वर के राज्य में प्रधान पट्टधर विजयदेवसूरि थे। आप शासन भारको वहन करने में अत्यन्त निपुण थे। इनके अतिरिक्त आठ" उपाध्याय " पदधारी, और सैकड़ों मुनि " पंडित "

पदवी धारक थे। इस पवित्र समूह में अनेक व्याकरण शास्त्र के पार-गामी, कितने तर्क शास्त्रमें बृहस्पति तुल्य थे । और कितनेही आशुकवि तथा व्याख्यान देने में वाचस्पति होरहे थे । गणधर-श्रुतकेवलीकृतसूत्र, अङ्गोपांगादिमें तथा बहुत से गणितशास्त्र, ज्योतिष, साहित्य,छन्दानुशासन,लिंगानुशासन, धर्मशास्त्र आदि सब विषयों के जानने वाले सैकड़ों साधु श्रीसूरिजी महाराज के साम्राज्य में थे।

श्रीसूरिजी महाराज के उपदेश से श्रीशत्रुञ्जय-श्रीतारंगा-श्री-विद्यानगर-श्रीराणपुर-श्रीआरासणपुर-पत्तननगर में पंचासर पा-र्श्वनाथ-श्रीनारंगपुरीयपार्श्वनाथादि के तीर्थ का इत्यादि बहुत से तीर्थोद्धार हुए। प्रतिष्ठाएं तो बहुतसी जीवन चरित्र में दिखाई गई हैं। श्रीसंखेश्वर ग्राम में श्रीपार्श्वनाथ का शिखरबंध मन्दिर का निर्माण भी सूरीश्वर ने करवाया था।

नगर २ में स्थान२ में राजा महाराजाओं के अतुच्छ महोत्सवों से पूजित श्रीहीरविजयसूरि और श्रीविजयसेनसूरिके पुण्य प्रभावसे इस चरित्र को पढ़ने वाले पाठकों को उत्तमोत्तम गुणों की प्राप्ति हो, यह इच्छा करता हुआ इस पवित्र चरित्र को यहांही स-माप्त करता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।



सूचना

"श्रीहीरविजयसूरि, अकबर बादशाह को धर्मोपदेश दे रहेहैं," इस भाव की फोटु जिसको चाहिए, वह 'श्वेताम्बर ओसवाल जैन लायब्रेरी, चौक लखनऊ' इस पतेसे मंगवाले । केबीनाइट ।≠) फूलसाइझ ।॥)

जैन–शासन ।

(पाक्षिक पत्र)

यह पत्र हरपूर्णिमा तथा अमावास्या को प्रकट होता है । इस पत्र में ऐतिहासिक, नैतिक एवं धार्मिक विषय के लेख प्रकाशित हुआ करते हैं । गुजराती के साथ हिन्दी भाषा में भी प्रायः लेख रहते हैं । वार्षिक २) ग्राहक होने वाले को चाहिए कि अपना, नाम, गांव इत्यादि पूरा पता साफ अक्षरों में लिख भेजें ।

श्रीयशोविजयजैनग्रन्थमाला

(संस्कृत मासिक पुस्तक)

श्रीयशोविजय जैनग्रन्थमाला मासिक में एकसौ पृष्ठ संस्कृत और प्राकृत के निकाले जाते हैं । जिसमें न्याय, कोश तथा महाकाव्य के ग्रन्थ क्रमशः प्रकाशित होते हैं । डाक महसूल के साथ वार्षिक ८) प्रथम से लेने में आते हैं । नमूना का अंक किसी को भेजने में नहीं आता है ।

शास्त्रविशारद जैनाचार्य–श्रीविजयधर्मसूरिजी कृत

१.	जैनतत्त्वदिग्दर्शन	(हिन्दी भाषा)	०-२-०
२.	जैनशिक्षादिग्दर्शन	"	०-२-०
३.	"	(गुजराती)	०-२-०
४.	पुरुषार्थदिग्दर्शन	(हिन्दी भाषा)	० ४ ०
५.	आत्मोन्नतिदिग्दर्शन	(गुजराती)	० ० ६
६.	अहिंसादिग्दर्शन–	(हिन्दी)	०-४ ०
७.	"	(बंगला)	०-४ ०
	विजयप्रशस्तिसार	(हिन्दी)	० ६-०

पताः—शाह–हर्षचन्द्र भूराभाई ।
अंग्रेजी कोठी–बनारस-सिटी.

अर्हम्



अहिंसादिग्दर्शन



कर्ता

शास्त्रविशारद-जैनाचार्य-श्रीविजयधर्मसूरि ।

अमदावादवाले शाह वाडीलालमगनलाल की माता
बाई वाली तथा
रतीलालमगनलाल की सहायता से
दूसरी वार छपा ।

PRINTED AND PUBLISHED BY SHAH HARKHCHAND BHURABHAI
AT THE DHARMABHYUDAYA PRESS,
BENARES CITY.
वीरसंवत् २४३८ ।

सूचना।

पाठकलोग जानते ही हैं कि हमारे परमपूज्य शास्त्रविशारद-जैनाचार्य श्रीविजयधर्मसूरिमहाराजने कुछ महीने पहले इस पुस्तक की रचना की थी और थोडेही रोज़ हुए कि मैंने इसकी प्रथमावृत्ति को प्रसिद्ध किया था। साथहीसाथ मुझे यह कथन करते हुए अत्यन्त हर्ष उत्पन्न होता है कि हमारे हिन्दीभाषा के प्रेमियोंने अत्यन्त श्लाघनीय रीतिसे इस पुस्तक का सत्कार किया है इतनाही नहीं बल्कि बड़ाबजार गजट, सद्धर्मप्रचारक, जैन तथा जैनगजट वगैरह साप्ताहिक, भारतधर्मनेता, जैनमित्र और सत्संग आदिपाक्षिक और सरस्वती, सुधानिधि, गढवाली, ब्राह्मणसर्वस्व, दिगम्बरजैन, सनातनधर्म तथा जैन-हितैषी आदि मासिकपत्रकारोंने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है, इसी कारण से प्रथमावृत्ति थोड़ेही दिनों में समाप्त भी हो गई अतएव मुझे दूसरी आवृत्ति के प्रसिद्ध करने का अवसर मिला है।

इस दूसरी आवृत्ति में मैंने ग्रन्थकर्त्ता महाराज श्रीविजयधर्मसूरिजी का संक्षिप्तजीवनचरित्र और उनका सुन्दर फोटो भी दिया है आशा है कि हमारे पाठक-लोग इस पुस्तक से पुनः पुनः अवश्य लाभ उठावेंगे।

अंग्रेजीकोठी
बनारस सिटी. } सन्तों का सेवक
हर्षचन्द्र भूराभाई.

प्रस्तावना ।

यद्यपि यह ग्रन्थ ही प्रस्तावना रूप होने से इससे अतिरिक्त प्रस्तावना की कोई आवश्यकता नहीं थी तथापि यह नियम है कि 'कारण के विना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती' इस लिये इस ग्रन्थ के वनाने में भी कोई न कोई कारण अवश्य ही होना चाहिये, अतएव इस ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखने के उद्देश्य से अगर दो वचन कहे भी जायँ तो अस्थान पर अथवा अप्रस्तुत नहीं गिने जायँगे।

कथन करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि इस नये जमाने में जिस रीति से अनेक प्रकारके प्राचीन, अर्वाचीन, मूलग्रन्थ, भाषान्तर, प्रवन्ध, निवन्ध, नोवेल और भजन कीर्तनादिकी कितावें प्रकट होती हैं, उसी भाति यह 'अहिंसादिग्दर्शन' ग्रन्थ भी प्रकट हुआ है। मुझे इस ग्रन्थ के वनानेका कारण दिखलाते हुए सखेद कहना पडता है कि धर्मशास्त्रों में 'अहिंसा परमो धर्मः' 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' इत्यादि महर्षियों के वाक्यों को दृष्टिगत करते हुए और समझते हुए भी हमारे कितनेही भारतवासी, हिन्दु-नामधारी मांसाहार से वचे नहीं हैं, ऐसे और भी लोग जो धर्मशास्त्रको नहीं जानकर केवल जिह्वेन्द्रिय की लालच से मांसाहार करते हैं उनलोगों पर करुणाभाव होने से इस ग्रन्थ के लिखनेका विचार हुआ और उपरोक्त हेतुसे ही शास्त्र, स्वानुभव, और लोक व्यवहार को लक्ष्य में रख कर यह निवन्ध लिखा गया है।

इस निवन्ध में, पाठकों को रागद्वेष न होने पावे वैसी जहांतक घनी सावधानता रक्खी गई है और शास्त्र के अनभिज्ञ लोगों को लौकिक दृष्टान्त-युक्तियाँ देकर सहज में समझाने की कोशिश भी की गई है जिससे कि वे लोग अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण न करें।

प्रसङ्गानुरोध से मुझे कहना पडता है कि गुजरातदेशको छोडकर मध्य हिन्दुस्थान, वङ्गाल, मगध और मिथिलादिदेशों में मैं जव विचरने लगा तव उन उन देशों में प्रचलित घोर हिंसाको देखकर मेरे अन्तःकरण में जो जो विचार उत्पन्न हुए उनका दिग्दर्शन भी अगर यहां पर कराया जाय

एक दूसरा ही निवन्ध तैयार हो जाय, किन्तु उन दूसरी बातों को छोडकर सब धर्मवालों की माता ' अहिंसा ' महादेवी की आशातना करनेवाले, धर्म के निमित्त से हिंसा करने वाले, देविओं के सन्मुख उनके पुत्रों को मारनेवाले क्रूरात्माओं पर उत्पन्न हुई भावदया के कारण, ' यावद्बुद्धिबलोदयम् ' इस नियमानुसार मैंने ' अहिंसादिग्दर्शन ' नामक ग्रन्थ लिखकर भव्य पुरुषों के सन्मुख उपस्थित किया है ।

इस निवन्ध में केवल जैन शास्त्रों के ही नहीं वल्कि विशेष करके महाभारत, पुराण, मनुस्मृति और गीता आदि हिन्दुधर्मवालों के माननीय ग्रन्थो के ही प्रमाण देकर 'अहिंसा ' की पुष्टि की गई है ।

प्रसङ्गानुसार मुझे यह कहते हुए सतोप होता है कि इस ग्रन्थ के प्रकाशक को इसकी दूसरी आवृत्ति प्रसिद्ध करने का वहुत ही शीघ्र अवसर मिला— इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का यही एक अत्युत्तम उदाहरण है और मैंने इस दूसरी आवृत्ति में कुछ अश वढा भी दिया है कि जिस से पाठकों को विशेष लाभ मिले ।

अन्त मे मेरा यह करुणाभाव संपूर्ण जगत् के समस्त प्रदेशों में निवास करे इतनाही कहकर मै इस छोटीसी प्रस्तावना को समाप्त करता हूँ ।

ग्रन्थकर्ता ।



अर्हम्



शास्त्रविशारद-जैनाचार्य-श्रीविजयधर्मसूरि ।

D A PRESS, BENARES.

शास्त्रविशारद जैनाचार्य श्रीविजयधर्मसूरिजी का संक्षिप्त जीवन।



काशी की जैन-यशोविजय पाठशाला की कई पुस्तकों की समालोचना सरस्वती में निकल चुकी है । उससे पाठकों को इस पाठशाला के नाम से जरूरही परिचय होगया होगा। आज हम इस पाठशाला के अध्यक्ष आचार्य श्रीविजयधर्मसूरि का संक्षिप्त चरित पाठकों को सुनाते हैं। ये ऐसे महात्मा है कि भारत के अनेक प्रतिष्ठित विद्वान् इनका आदर करते हैं और इन पर बड़ी ही श्रद्धा रखते हैं। आपका चरित, कुछ समय हुआ, बँगला की वाणी नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था । उसी से प्राप्त सामग्री से यह लेख प्रस्तुत हुआ है।

काठियावाड में महुवा नामक एक गाँव है। वहीं वीशाश्रीमाली जातीय वैश्य के घर संवत् १९२४ में जैनगुरु श्रीविजयधर्मजी का जन्म हुआ । इनके पिता का नाम सेठ रामचन्द्र और माता का नाम कमलादेवी था। दीक्षाग्रहण करने के पहले इनका नाम मूलचन्द था। ७ वर्ष की उम्र में ये पाठशाला में भरती किये गये, किन्तु वहा इन्होंने कुछ भी नहीं सीखा । इनके पिता ने जब देखा कि ये लिखने पढ़ने में मन नहीं लगाते तब वे इन्हें अपने घर का काम काज सिखाने लगे । कुछ दिन बाद इनके हृदय में विद्याभिरुचि का अङ्कुर उग आया। अतएव काम से छुट्टी मिलने पर ये परिश्रमपूर्वक गुजराती भाषा सीखने लगे। इनके पिता ने थोडी ही उम्र में इन्हें अपने व्यवसाय में निपुण कर दिया। परन्तु पन्द्रहवे वर्ष में सग-दोष से इन्हें सट्टा और जूआ खेलने की बुरी आदत पड गई । बीसवे वर्ष में एकाएक इनका स्वभाव बदला। ये सोचने लगे कि इस तुच्छ सासारिक सुख के लिए जितना परिश्रम करता हूँ–जितना समय नष्ट करता हूँ–उसका शतांश भी यदि आध्यात्मि

उन्नति मे लगाऊँ तो बहुत उपकार हो । यह खयाल आते ही इनका मन सांसारिक मायाजाल से हट गया। इन्होने शीघ्र ही गृह-त्याग करके सद्गुरु की खोज मे घूमना शुरू किया। सौभाग्यवश इन्हे एक सद्गुरु मिल भी गये। अपने शुभ गुणो के कारण ये शीघ्र ही गुरु के कृपापात्र बन गये । इनके गुरु ने इन्हे जैन साधु होने के लिए माता पिता की आज्ञा लेने को घर भेजा। इनकी पुत्रवत्सला माता तो अपने पुत्र का साधु हो जाना पसन्द नहीं करती थी, किन्तु दूरदर्शी पिता ने देखा कि पुत्र का मन संसार से एकदम विरक्त हो गया है । इसमे यदि मै रोकूंगा भी तो वह न मानेगा। अतएव उन्होने प्रसन्नतापूर्वक इन्हे साधु होने की आज्ञा दे दी। अब मूलचन्द के दीक्षाग्रहण करने के मार्ग में कोई रुकावट न रही। इन्होने ज्येष्ठ कृष्ण पञ्चमी, संवत् १९४३ को, भावनगर के विख्यात महात्मा शान्तमूर्त्ति श्रीवृद्धिचन्द्रजी महाराज से दीक्षा ग्रहण की। तब से इनका नाम " धर्मविजय " हुआ।

जैन मत मे साधुओं के जीवन का प्रधान उद्देश आत्मोन्नति और जगत् का उपकार करना है। जैनी साधु धर्म की शिक्षा देकर संसार का उपकार करते है। धर्मोपदेश के लिए विशेष शास्त्रज्ञान होना जरूरी है । पूरे शास्त्र-ज्ञान के बिना सर्वसाधारण पर उपदेश का अच्छा असर नहीं पडता। इस कारण ये महात्मा भी दीक्षा ग्रहण करने के बाद गुरु सेवा मे तत्पर रह कर उनसे धर्मशिक्षा ग्रहण करने लगे । ये गुरु सेवा मे अधिक मन लगाते थे। पर उस समय इन्हे संस्कृत-भाषा का ज्ञान नहीं था। इससे इनकी धर्मशिक्षा शीघ्र सम्पन्न नहीं हुई। केवल प्रतिक्रमण अर्थात पंचसन्ध्या सीखने मे इन्हें डेढ़ वर्ष लगा। इस कारण इनके गुरुभाई और दूसरे साधु इनकी हँसी किया करते थे। परन्तु ये कभी हतोत्साह नहीं हुए, बराबर धीरे धीरे अपना कार्य करते गये।

हुआ। उसके बाद इन्होंने भावनगर परित्याग किया। संवत् १९४९ का चातुर्मास्य इन्होंने लीमड़ी नगर में बिताया। इस तरह गुजरात के अनेक नगरों में घूम घूम कर इन्होंने लोगों को धर्मोपदेश देकर कृतार्थ किया। इस कार्य्य से इनकी बड़ी प्रतिष्ठा हुई। इनके धर्मोपदेश से जैनियों के सिवा अन्यान्य सम्प्रदायवालों का भी बहुत उपकार हुआ। इस समय इनका विद्यानुराग भी बहुत प्रबल हो उठा। लड़कपन में नियमित रूप से संचालित न होने के कारण इनकी बुद्धि मन्द पड गई थी। तथापि अपार परिश्रम करके इन्होंने संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। धर्म और दर्शनशास्त्र का भी इन्होंने उत्तम ज्ञान प्राप्त किया।

लुप्तप्राय जैन-गौरव का पुनरुद्धार करना इनके जीवन का प्रधान उद्देश है। इस उद्देश की सिद्धि के निमित्त इन्होंने अब तक अनेक कार्य्य किये हैं। संवत १९५२ में इन्होंने सादडी स्थित जैन-सम्प्रदाय के अनेक विवादों को मिटा कर बहुत कष्ट से राणकपुर के जैन-श्वेताम्बरमन्दिर की व्यवस्था की। १९५३ में इन्होंने उपरियाले तीर्थ का उद्धार करवाया। यह तीर्थ भोयणी गाँव से बारह कोस पर है। यहाँ फाल्गुन-शुक्लाष्टमी को बहुत बड़ा मेला होता है।

१९५७ संवत में, श्रावणी पूर्णिमा के दिन, इन्होंने वीरमगाँव के जैनियों को उत्साहित करके एक बड़ा पुस्तकालय स्थापित कराया। उसका नाम "धर्मविजय-पुस्तकालय" पड़ा। इसके सिवा इन्होंने सौराष्ट्र, गुजरात, मालव, काठियावाड आदि देशों के अनेक लुप्तप्राय और सम्पूर्ण-विलुप्त जैन-तीर्थों का उद्धार किया और अनेक स्थानों में संस्कृतपाठशालायें तथा ज्ञानागार स्थापन कराये।

प्राचीन समय में संस्कृत और प्राकृत साहित्य में जैनियों का जो स्थान था उसको पुनः प्राप्त करने की इन्हें इच्छा हुई। बहुत सोच विचार कर इन्होंने यह निश्चय किया कि काशी में एक जैन-पाठशाला स्थापित करके जैन छात्रों को संस्कृत की उत्तम शिक्षा दी जाय तो इस उद्देश की सिद्धि हो सकती है। अतएव इन्होंने उसके लिए प्रयत्न करना आरम्भ किया। अनेक स्थानों में घूम घूम कर इन्होंने लोगों पर अपने विचार प्रकट किये। इनके परमोपयोगी सङ्कल्प का हाल सुनकर अनेक लोग इनके सहायक हुए। वीरमगांव में एक कार्य्यकारिणी समिति प्रतिष्ठित हुई। वह समिति पाठशाला

क खर्च के लिए रुपये जमा करने लगी । कुछ धन इकट्ठा होने पर धर्मविजयजी कुछ विद्यार्थियों और जैन साधुओं को साथ लेकर काशी को रवाना हुए। जैन-सम्प्रदाय में साधुओ को किसी सवारी पर चढकर एक स्थान से दूसरे स्थान जाना मना है। अतएव ये लोग पैदल ही रवाना हुए। रास्ते में स्थान स्थान पर धर्मोपदेश देते हुए सब लोग चार महीने मे काशी पहुँचे।

ये लोग, सवत् १९५९ की वैशाख शुक्ला तृतीया को, काशी में उपस्थित हुए। इसके पहले काशी में जैन-साधुओं का बहुत कम आवागमन था। इससे वहाँ के गृहस्थ जैन अपने साधुओं का उचित सत्कार करना नहीं जानते थे। काशी में जैन यति* ही अधिक रहते थे। इससे वहाँ के गृहस्थ जैनों को यतियों के आचार-व्यवहार का ही ज्ञान था। यति और साधु का भेद वे नही जानते थे। अतएव मुनि महाराज और उनके साधु शिष्यो के आचार व्यवहार उन्हें नवीन से मालूम होने लगे। जो हो, विजयधर्म सूरि और उनके सग के साधुओं ने काशी के जैन गृहस्थों को अपने उपदेशों द्वारा साधुजीवन की श्रेष्ठता समझा दी इसका फल यह हुआ कि वहाँ के जैनों की इन पर दिन दिन अधिक श्रद्धा-भक्ति होने लगी। इसी समय मुनिजी ने एक प्राचीन धर्मशाला में जैन-पाठशाला का कार्य आरम्भ कर दिया। इस पाठशाला का नाम श्रीयशोविजय जैन-पाठशाला रक्खा गया। उसके बाद मुनि महाराज श्रीधर्मविजयजी को पाठशाला के लिए एक अच्छा मकान प्राप्त करने की फिक्र हुई। उन्होंने नन्दन साहु के महल्ले में "अँगरेजी कोठी" नामक मकान उसके लिए उपयुक्त समझा। मुनि महाराज के उपदेशानुसार उनके गृहस्थ शिष्य बंबई-निवासी सेठ वीरचन्द दीपचन्द, सी० आई० ई०, जे० पी० तथा सेठ गोकुलभाई मूलचन्द ने पच्चीस हजार रुपये में उक्त मकान पाठशाला के लिए खरीद दिया। इस मकान में पाठशाला आजाने पर श्रीधर्मविजयजी ने चेष्टा करके वहाँ एक संस्कृत-पुस्तकालय भी स्थापित किया। उसका नाम "हेमचन्द्राचार्य-विद्याभाण्डार" रक्खा गया।

---

* जैनियों में 'यति' उनको कहते हैं जो द्रव्य और धातु छूते हैं, एक जगह से दूसरी जगह सवारी पर जाते हैं, छुर से हजामत बनवाते हैं। 'साधु' उन्हें कहते हैं जो ये काम नही करते। जैन यति शुक्ल वस्त्र पहनते हैं और जैन साधु पीले।

संवत् १९६२ में, प्रयाग में, कुम्भ का मेला हुआ। उस समय पण्डित मदनमोहनजी मालवीय के उद्योग से वहां "सनातन-धर्म-महासभा" का अधिवेशन हुआ। इस सभा में भारतवर्ष के सब स्थानों से पण्डित लोग आये थे। श्री धर्मविजय महाराज भी निमन्त्रित होकर पाठशाला के छात्रों और साधुओं के साथ वहां गये थे। इन्होंने माघ शुक्ल प्रतिपदा के दिन उस सभा की ज्ञानगोष्ठी के 'ऐक्य' विषय पर एक बहुतही उत्तम ज्ञान-गर्भित वक्तृता दी थी। इस अधिवेशन में उत्कलखण्ड के शङ्कराचार्यजी सभापति हुए थे।

वहां से मुनि महाराज फिर काशी लौट आये और पाठशाला की उन्नति के लिए अनेक यत्न करने लगे। फिर संवत् १९६३ की कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा के दिन, श्रीधर्मविजयजी श्रीपार्श्वनाथ तीर्थ (समेतशिखर) की यात्रा को रवाना हुए। इस समय उनके साथ बहुत से विद्यार्थी और साधु शिष्य थे।

पार्श्वनाथ-यात्रा समाप्त करके ये बीस विद्यार्थियों और पाँच साधुओं को साथ ले कर बंगदेश की ओर चले। कुछ दिनों में ये कलकत्ते पहुँचे। वहाँ भी इन्होंने जैन धर्म का प्रचार शुरू किया। जैनियों की तो कोई बात ही नहीं, दूसरे लोग भी बड़ी श्रद्धा से इनके उपदेश सुनने लगे। अनेकानेक बंगाली युवकों का धर्म, ज्ञान और विद्या में विशेष अनुराग देख कर इन्होंने राय बद्रीदास बहादुर के मकान में कई व्याख्यान दिये। इसी समय महामहोपाध्याय पण्डित सतीशचन्द्र विद्या-भूषण का मुनि महाराज से परिचय हुआ। पण्डित महाशय मुनिजी के अगाध शास्त्रज्ञान पर मुग्ध हो गये। उन्होंने इनसे जैन दर्शन पढ़ा और उनके उपदेश से मांस-मछली खाना छोड़ दिया।

बङ्गीय-साहित्य-परिषद् के सभ्यों के अनुरोध से श्रीधर्मविजयजी ने उसके दो अधिवेशनों में सभापति का आसन ग्रहण किया। दोनों दफे उन्होंने बहुत ही सुन्दर और सारगर्भित व्याख्यान दिये। इनकी वक्तृता पर मुग्ध होकर बहुतों ने इनका मत ग्रहण किया।

जैन पाठशाला या संस्कृत-शिक्षा प्रणाली का संस्कार करने के निमित्त श्रीधर्मविजयजी ने कलकत्ते से बङ्गदेश के प्रधान विद्यापीठ नवद्वीप की यात्रा की। वहां जाकर इन्होंने बहुत विचारपूर्वक वहां की शिक्षा-प्रणाली का निरीक्षण किया। नवद्वीप के महामहोपाध्याय पण्डितों ने इनका बड़ा आदर किया

वहाँ से ये काशी लौट आये। यहाँ पहुँच कर इन्होंने पाठशाला की बहुत ही बुरी दशा देखी। उसके छात्रों की संख्या ५३ से घट कर ८ हो गई थी। अतएव ये फिर से उसकी उन्नति की चेष्टा करने लगे। अब इस पाठशाला की दिन दिन उन्नति हो रही है।

श्रीविजयधर्मजी के काशी लौट आने पर, संवत् १९६४ की श्रावण-शुक्ल-चतुर्दशी को, श्रीयशोविजय-जैन पाठशाला में एक बडी भारी सभा हुई। काशीनरेश महाराज प्रभुनारायणसिंह बहादुर, जी० सी० एस० आई० ने सभापति का आसन ग्रहण किया। इस सभामें भारतवर्ष के सब स्थानों के पण्डित एकत्र हुए थे। सब ने एक मत होकर श्रीधर्मविजयजी को "शास्त्र-विशारद जैनाचार्य" की उपाधि दी। प्रतिष्ठापत्र पर सब पण्डितों ने हस्ताक्षर किये।

जैन पाठशाला में इस समय अच्छे अच्छे अध्यापक हैं। विद्यार्थियों को संस्कृत और प्राकृत भाषा की उत्तम शिक्षा दी जाती है। मुनि महाराज के सुयोग्य शिष्य इन्द्रविजयजी पाठशाला का बहुत ही सुन्दर प्रबन्ध करते हैं। परन्तु इतने पर भी श्रीधर्म विजय महाराज को संतोष नहीं। उनकी राय है कि पाली भाषा जाने विना भारतीय साहित्य, भारतीय इतिहास, भारतीय दर्शन और भारतीय धर्म की शिक्षा पूरी नहीं होती। इसी से उस साल, जब महामहोपाध्याय डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण, एम० ए० भारत-गवर्नमेंट की आज्ञा से सिंहल द्वीप (Ceylon) गये थे तब मुनि महाराज ने भी अपने दो गृहस्थ शिष्यों को पण्डित महाशय की निगरानी में रह कर पाली भाषा सीखने के लिये सिंहल भेजा था। उन दोनों ने वहाँ रह कर पाली भाषा का अध्ययन किया और उसमें अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। वहाँ से लौटने के पहिले उन्होंने जैनधर्म पर पाली भाषा में एक व्याख्यान दिया। यह व्याख्यान सिंहल के प्रधान विद्यालय में वहाँ के प्रसिद्ध प्रसिद्ध पण्डितों और पाली-भाषा-विशारद बौद्ध साधुओं के सामने हुआ था। उन विद्यार्थियों को इतने कम समय में पाली-भाषा में ऐसी योग्यता प्राप्त करते देख सुमङ्गलाचार्य आदि पाली-भाषा के आचार्यों ने उन्हें प्रतिष्ठापत्र और तालपत्र-लिखित पुस्तकों का उपहार दिया। परन्तु इतना खर्च करवाके श्रीधर्मविजयजी ने जिस उद्देश से विद्यार्थियों को सिंहल भेजा था वह सिद्ध

नहीं हुआ। मुनि महाराज ने विद्यार्थियों को यह जानने के लिए भेजा था कि जैन और हिन्दू-दर्शन शास्त्रों में बौद्ध मत का जो पूर्वपक्ष देख पड़ता है उसका मूल पाली ग्रन्थों में है या नहीं। किन्तु सिंहल में बौद्ध साधु दर्शन शास्त्र पर चर्चा नहीं करते इस कारण केवल भाषा मात्र की शिक्षा देकर ही इन लोगों ने दोनों विद्यार्थियों को विदा कर दिया। मुनि महाराज इन दोनों विद्यार्थियों को इस काम के लिए तिब्बत और ब्रह्मदेश भेजने का विचार कर रहे हैं। इन विद्यार्थियों से क्यों, महापण्डितों से, एक बार काशी में मिल कर हमने बहुत आनन्द प्राप्त किया है।

लुप्त जैन-ग्रन्थों का उद्धार और उनका प्रचार करना भी इनके जीवन का एक उद्देश है। उस उद्देश की सिद्धि के लिए इन्होंने पाठशाला से "श्रीयशोविजय-जैन-ग्रन्थमाला" प्रकाशित करना आरम्भ किया है। अब तक इसमें कोई १५, १६ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। यह ग्रन्थमाला हर महीने प्रकाशित होती है। इसके लिए पाठशाला में एक छापाखाना भी है। इस पुस्तकमाला से केवल जैनधर्म ही का उपकार नहीं होता, प्राचीन इतिहास और भाषान्तर की भी बहुत कुछ सामग्री इसमें इकट्ठी हो रही है।

श्रीविजयधर्म सूरि जी श्वेताम्बर सम्प्रदाय के जैनों के प्रधान आचार्य हैं। ये बड़े ही उद्यत और सत्यनिष्ठ हैं। इनकी स्थापित की हुई जैन-पाठशाला में जैन-विद्यार्थियों के सिवा हिन्दू-विद्यार्थियों को भी शिक्षा दी जाती है। ये दोनों ही पर समान दृष्टि रखते हैं—दोनों ही के अभावमोचन की एकसी चेष्टा करते हैं। इनकी राय है कि प्रकट रूप से जैन धर्म ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं। जैन धर्म के उपदेशों के अनुसार कार्य्य करना ही यथार्थ धर्मग्रहण करना है। ये जैन धर्म को ही भारत का आदि और मुख्य धर्म मानते हैं। योरप में जैन धर्म का प्रचार करने की ओर भी इनका ध्यान है। जैनशास्त्र के पण्डित और धर्मप्रचार-समर्थ दो तीन छात्रों को योरप भेजने का भी ये विचार कर रहे हैं। मुनि महाराज जैनशास्त्र और जैनधर्म में विशेष श्रद्धा रखनेवाले योरप के विद्वानों को प्राचीन जैनशास्त्र के ग्रन्थ पढ़ने को देते हैं और पत्र द्वारा उनकी शङ्काओं का समाधान किया करते हैं। इन्होंने 'बिबलिओथिका इण्डिका' नाम की ग्रन्थमाला में योगशास्त्र आदि पुस्तकों का स्वयं सम्पादन किया है और अन्यान्य पण्डितों को अनेक प्राचीन जैन ग्रन्थों के सम्पादन में

अर्हम्

शान्तमूर्त्तिश्रीवृद्धिचन्द्रगुरुभ्यो नमः ।

अहिंसादिग्दर्शन ।

नत्वा कृपानदीनाथं जगदुद्धारकारकम् ।
अहिंसाधर्मदेष्टारं महावीरं जगद्गुरुम् ॥ १ ॥
मुनीशं सर्वशास्त्रज्ञं वृद्धिचन्द्रं गुरुं तथा ।
समदृष्ट्या दयाधर्मव्याख्यानं क्रियते मया ॥ २ ॥

अनादि काल से जो इस संसार में प्राणीमात्र नये नये जन्मों को ग्रहण करके जन्म, जरा, मरणादि असह्य दुःखों से दुःखित होते हैं उसका मूल कारण कर्म से अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। इसलिए समस्त दर्शन (शास्त्र) कारों ने उन कर्मों को नाश करने के लिए शास्त्रद्वारा जितने उपाय बतलाये हैं, उन उपायों में सामान्यधर्मरूप-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, निस्पृहत्व, परोपकार, दानशाला, कन्याशाला, पशुशाला, विधवाऽऽश्रम, अनाथाश्रमादि सभी दर्शनवालों को अभिमत है; किन्तु विशेषधर्मरूप—स्नान सन्ध्यादि उपाय में विभिन्न मत है, अत एव यहां विशेषधर्म की चर्चा न करके केवल सामान्यधर्म के सम्बन्ध में विवेचना करनाही लेखक का मुख्य उद्देश्य है और उसमें भी सर्वदर्शनवालों की अत्यन्तप्रिया दयादेवी का ही अपनी बुद्धिके अनुसार वर्णन करने की इच्छा है। उसीको आक्षेपरहित पूर्ण करने के लिए लेखक की प्रवृत्ति है। दया का स्वरूप—लोकव्यवहारद्वारा, अनुभवद्वारा और शास्त्रद्वारा लिखा जायगा: जिसमें प्रथम लोकव्यवहार से यदि विचार करें तो मालूम होता है कि जगत के समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में दया का अदृश्य संचार है, अर्थात् दुर्बल जीव पर यदि कोई बलवान जीव

मार्ग में आक्रमण करता हो तो अन्य पुरुष, बलवान् से दुर्बल को वचाने के लिए अवश्यही प्रयत्न करेगा, जैसे कि यदि किसी को चोर रास्ते में लूटता हो और वह चिल्लाता हो तो उसकी चिल्लाहट सुनतेही लोग इकट्ठे होकर चोर के पकडने की कोशिश अवश्यही करेंगे वैसेही कोई कैसाही क्यों न तुच्छ जीव हो उसको यदि बल-वान् जीव मारता होगा तो उसके छुडाने का प्रयत्न लोग अवश्य करेंगे, याने छोटे पक्षी को वड़ा पक्षी, बडे पक्षी को बाज, बाज़ को बिल्ली, बिल्ली को कुत्ता, और कुत्तेको कुत्तामार (डोम) मारता होगा तो उसके छुडाने का प्रयत्न, देखनेवाला अवश्यही करेगा । इसीसे कृष्णजी (जिनको हिन्दू लोग भगवान् मानते है) की भी कपट-नीति को देखकर लोग एक बार उनके भी कृत्यों की निन्दा करने में सकोच नहीं करते है । अर्थात्भारत युद्ध के समय चक्रव्यूह (चक्रावा) के वीच में जो अभिमन्यु से कृष्ण ने कपट किया था उसको सुनकर आजभी समस्त भक्तजन उनकी भी निन्दा करने को तैयार होते है । इससे यह सिद्ध होता है कि लोगोंके मनमें स्वाभा-विकही दया वसी हुई है, किन्तु खेद की वात है कि जिह्वा इन्द्रिय के लालच से फिरभी अकृत्य को करते है अर्थात् मांसाहार में लुब्ध हो कर धर्म कर्म से रहित हो जाते है, क्योंकि यदि मासाहार कर-नेवाला सहस्रों दान पुण्य करे तोभी एक अभक्ष्य आहार के द्वारा समस्त अपने गुणों को दूपित करदेता है । जैसे भोजन चाहे जितना सुन्दर हो किन्तु यदि उसमें लेशमात्र भी विप पडजाय तो वह फिर ग्राह्य नही रहता, वैसेही मासाहारी कितनेही शुभ कर्म करे तौभी वे अशुभभागीही है, क्योंकि जिसके हृदय में दया का सचार नहीं है उसका हृदय हृदय नहीं किन्तु पत्थर है । मासाहारी ईश्वरभजन, सन्ध्या आदि कोईभी धर्मकृत्य के लायक नहीं गिना जासकता, उसमें कारण यह है कि विना स्नान के, सन्ध्या और ईश्वरपूजादि शुभकृत्य नहीं किए जाते और "मृतं स्पृष्ट्वा स्नानमाचरेत्" इस वाक्य से मुरदे

को छूकर स्नान अवश्य ही करना चाहिये तब विचारने का समय है कि बकरा, भैंसा, मछली आदि का मांस भी मुर्दाही है, उसके खाने से स्नानशुद्धि कैसे गिनी जायगी ? क्योंकि मांसका अंश पेट से जल्दी नाश नहीं होता तब बाहर का स्नान क्या करलेगा ? इसी कारण से वराहपुराण में वराहजीने वसुन्धरा से अपने बत्तीस अपराधियों में से मांसाहारी को अठारहवाँ अपराधी कहा है, वहां उस प्रकरण में यह कहा है कि जो मांसाहार करके मेरी पूजा करता है वह मेरा अठारहवा अपराधी है। जैसे—

" यस्तु मात्स्यानि मांसानि भक्षयित्वा प्रपद्यते ।
अष्टादशापराधं च कल्पयामि वसुन्धरे ! " ॥

कलकत्ता गिरिशविद्यारत्न प्रेसमें मुद्रित पत्र ५०८ अ० ११७ श्लो० २१

" यस्तु वाराहमांसानि प्रापणेनोपपादयेत् ।
अपराधं त्रयोविंशं कल्पयामि वसुन्धरे ! " ॥

" " श्लो० २६

" सुरां पीत्वा तु यो मर्त्यः कदाचिदुपसर्पति ।
अपराधं चतुर्विंशं कल्पयामि वसुन्धरे ! " ॥

और उसके हाथ (जिससे उसने मांस खाया है) बहुत मुश्किल से साफ होते है, तथा मत्स्यादि मांस खानेके अनन्तर खानेवाले के मुखसे लार निकलती है जो कि पान, सुपारी आदि बिना खाये शुद्ध नहीं होती, ऐसे कष्टोंको सहन करता हुआ भी कोई २ जीव उसी आहार को अच्छा मानता है। अधिक क्या कहा जाय, डाक्टर की भांति फिर उसे उन पदार्थों से घृणाभी नहीं होती। जैसे डाक्टर पहिले जब मुरदे को चीरता है तो उसे कुछ घृणा भी आती है किन्तु पीछे धीरे २ बिलकुल घृणा जाती रहती है उसी तरह मांसाहारी का हाल समझना चाहिए। अगर मछली आदि खानेवाले से पूछा जाय तो मालूम होगा कि मछली आदि के काटने पर जो जल उसमें से निकलता है वह कैसी दुर्गन्धि पैदा करता है? कि जिसकी दुर्गन्धि से भी मनुष्य को कय (वमन) होजाता है। हा ! ऐसे नीच पदार्थों को उत्तम पुरुष कैसे खाते होंगे? यह भी एक शोचने की बात है। वनस्पति, जो कि सर्वथा मनुष्य को सुखकर है, उसका भी पुष्प यदि दुर्गन्धित होजाय तो उसे मनुष्य फेंक देते है, किन्तु मल, मूत्र, रुधिर आदि से संयुक्त, सडेहुए और कीड़ोंसे भरे हुए भी मांस को यदि मनुष्य नहीं छोडें तो उन्हें मनुष्य कैसे कहना चाहिए।

कोई २ मांसाहारी जो यह कहते है कि मांस खाने से शरीरमें बल बढ़ता है और वीरता आती है वह उनलोगों की भूल है, क्योंकि यदि मांसाहार से बल बढ़ता होता तो हाथी से सिंह अधिक बलवान् होता, क्योंकि जो बोझा हाथी उठाता है वह सिंह कदापि नहीं उठा सकता। अगर कोई यह कहे कि हाथीसे सिंह यदि बलवान् नहीं होता तो हाथी को कैसे मारडालता है? इसका उत्तर यह है कि हाथी फलाहारी होनेसे शान्तस्वभाव है और सिंह मांसाहारी होनेसे क्रूरात्मा है, इसलिए हाथी को दबा देता है, अन्यथा शुण्डादण्ड से यदि हाथी सिंह को पकड़ ले तो उसकी रग रग को चूर कर सकता है। अतएव यह बात सभीको स्वीकार करनी

पड़ेगी कि मांसाहार से क्रूरता बढ़ती है और क्रूरता किसी पुण्य-कृत्य को अपने सामने ठहरने नहीं देती है, और यह भी सब लोग सहज में समझ सकते हैं कि जो मांसाहारी लोग अपने घर में झगड़े के समय मार पीट करने से बाज नहीं आते, वह क्या निर्दयता का फल नहीं है? इसलिये मांसाहारही का फल निर्दयता स्पष्ट मालूम पड़ता है।

अब रही वीरता—वह भी मांस का गुण नहीं है किन्तु पुरुष काही स्वाभाविक धर्म है: क्योंकि अगर नपुंसक को ताकतदेनेवाले हजारों पदार्थ खिलाए जावें तोभी वह युद्ध के समय अवश्य भागही जायगा, इसमें प्रत्यक्ष दृष्टान्त यह है कि बङ्ग, मगध आदि देश के मनुष्य प्रायः मांसाहारी होने पर भी ऐसे कातर होते हैं कि यदि चार आदमी भी छपरे जिले के हों तो बङ्गदेशीय ५० पचास आदमी भाग जायेंगे; लेकिन बेचारे छपरे जिले के आदमी प्राय: सत्तूही खाकर गुजर करते हैं।

गुरु गोविन्दसिंह के शिष्य सिक्खलोग, जो कि किले के फतह करने में अव्वल नम्बर के गिने जाते हैं वे भी प्राय फलाहारी ही देखने में आते हैं, इसका कारण यह है कि जैसी लड़ाई स्थिरचित्त से फलाहारी लोग लड़ते हैं वैसी मांसाहारी कदापि नहीं लड़ सकते। इसमें दूसरा कारण यह भी है कि मांसाहारी को गर्मी बहुत लगती है और श्वास भी ज्यादा चलती है किन्तु फलाहारी को नतो वैसी गर्मी लगती है और न श्वासही बढ़ती है।

पाठकगण! आपलोगों ने सुना होगा कि जब रूस और जापान की लड़ाई हुई थी तब प्राय प्रचुर मांस के खानेवाले बड़े भयानक रूसियों को भी, मिताहारी और विचारशील जापानी वीरों ने परास्त करके संसार में कैसी आश्चर्यकारिणी अपनी जयपताका फहराई थी। यदि मांसाहार से ही वीरता बढ़ती होती तो रूस की सेना में मनुष्य बहुत से हृष्टपुष्ट थे किन्तु मांसाहार करने में भी कुछ कमी नहीं थी, फिरभी उन्हीं लोगों की क्यों हार हुई? इससे साफ मालूम

और उसके हाथ (जिससे उसने मांस खाया है) बहुत मुश्किल से साफ होते है; तथा मत्स्यादि मांस खानेके अनन्तर खानेवाले के मुखसे लार निकलती है जो कि पान, सुपारी आदि बिना खाये शुद्ध नहीं होती, ऐसे कष्टोंको सहन करता हुआ भी कोई २ जीव उसी आहार को अच्छा मानता है। अधिक क्या कहा जाय, डाक्टर की भांति फिर उसे उन पदार्थों से घृणाभी नहीं होती। जैसे डाक्टर पहिले जब मुरदे को चीरता है तो उसे कुछ घृणा भी आती है किन्तु पीछे धीरे २ बिलकुल घृणा जाती रहती है उसी तरह मांसाहारी का हाल समझना चाहिए। अगर मछली आदि खानेवाले से पूछा जाय तो मालूम होगा कि मछली आदि के काटने पर जो जल उसमें से निकलता है वह कैसी दुर्गन्धि पैदा करता है ? कि जिसकी दुर्गन्धि से भी मनुष्य को कय (वमन) होजाता है। हा ! ऐसे नीच पदार्थों को उत्तम पुरुष कैसे खाते होंगे ? यह भी एक शोचने की वात है। वनस्पति, जो कि सर्वथा मनुष्य को सुखकर है, उसका भी पुष्प यदि दुर्गन्धित होजाय तो उसे मनुष्य फेंक देते है, किन्तु मल, मूत्र, रुधिर आदि से संयुक्त, सड़ेहुए और कीड़ोंसे भरे हुए भी मांस को यदि मनुष्य नहीं छोड़ें तो उन्हें मनुष्य कैसे कहना चाहिए।

कोई २ मांसाहारी जो यह कहते है कि मांस खाने से शरीरमें बल बढ़ता है और वीरता आती है वह उनलोगों की भूल है, क्योंकि यदि मांसाहार से बल बढ़ता होता तो हाथी से सिंह अधिक वलवान् होता, क्योंकि जो बोझा हाथी उठाता है वह सिंह कदापि नहीं उठा सकता। अगर कोई यह कहे कि हाथीसे सिंह यदि बलवान् नहीं होता तो हाथी को कैसे मारडालता है ? इसका उत्तर यह है कि हाथी फलाहारी होनेसे शान्तस्वभाव है और सिंह मांसाहारी होनेसे क्रूरात्मा है, इसलिए हाथी को दबा देता है, अन्यथा शुण्डादण्ड से यदि हाथी सिंह को पकड़ ले तो उसकी रग रग को चूर कर सकता है। अतएव यह वात सभीको स्वीकार करनी

पड़ेगी कि मांसाहार से क्रूरता बढती है और क्रूरता किसी पुण्य-कृत्य को अपने सामने ठहरने नहीं देती है, और यह भी सब लोग सहज में समझ सकते है कि जो मासाहारी लोग अपने घर में झगड़े के समय मार पीट करने से बाज नहीं आते, वह क्या निर्दयता का फल नहीं है? इसलिये मासाहारही का फल निर्दयता स्पष्ट मालूम पड़ता है।

अब रही वीरता—वह भी मांस का गुण नहीं है किन्तु पुरुष काही स्वाभाविक धर्म है; क्योंकि अगर नपुसक को ताक़तदेनेवाले हजारों पदार्थ खिलाए जावें तोभी वह युद्ध के समय अवश्य भागही जायगा; इसमें प्रत्यक्ष दृष्टान्त यह है कि बङ्ग, मगध आदि देश के मनुष्य प्रायः मासाहारी होने पर भी ऐसे कातर होते हैं कि यदि चार आदमी भी छपरे जिले के हों तो बङ्गदेशीय ५० पचास आदमी भाग जायँगे; लेकिन बेचारे छपरे जिले के आदमी प्रायः सत्तूही खाकर गुजर करते है।

गुरु गोविन्दसिंह के शिष्य सिक्खलोग, जो कि किले के फतह करने में अव्वल नम्बर के गिने जाते है वे भी प्राय. फलाहारी ही देखने में आते है, इसका कारण यह है कि जैसी लड़ाई स्थिरचित्त से फलाहारी लोग लड़ते है वैसी मासाहारी कदापि नहीं लड सकते। उसमें दूसरा कारण यह भी है कि मासाहारी को गर्मी बहुत लगती है और श्वास भी ज्यादा चलती है किन्तु फलाहारी को नतो वैसी गर्मी लगती है और न श्वासही बढती है।

पाठकगण! आपलोगों ने सुना होगा कि जब रूस और जापान की लड़ाई हुई थी तब प्राय. कच्चेही मांस के खानेवाले बड़े भयानक रूसियों को भी, मिताहारी और विचारशील जापानी वीरों ने परास्त करके ससार में कैसी आश्चर्यकारिणी अपनी जयपताका फहराई थी। यदि मांसाहार से ही वीरता बढती होती तो रूस की सेना में मनुष्य बहुत थे इतनाही नहीं किन्तु मांसाहार करने में भी कुछ कमी नहीं थी, फिरभी उन्हीं लोगों की क्यों हार हुई? इससे साफ मालूम

हुआ कि हार का मूल कारण अस्थिरचित्तताही है।

मनुष्य की प्रकृति मांसाहार की न होने पर भी जो इन्द्रिय की लालच से निर्विवेकी जन मांसाहार करते है उसका बुरा फल सबको प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। अर्थात् मांसाहारी प्रायः मद्य का सेवक, वेश्यागामी तथा निर्दयहृदय होता है। यद्यपि कोई २ मांसाहारी वैसा दुर्गुणी नहीं होता तौभी उसके शरीर में बहुत रोग हुआ करते है। जैसे मत्स्यमांसादि के पाचन न होने से खानेवाले को रात्रि में खट्टी डकारें आतीं हैं, और बहुतों का खून बिगड़ जाता है, तथा शरीर पीला पड़जाता है, हाथ पैर सूख जावे हैं, पेट बढ़ जाता है, और किसी २ के तो पैर भी फूल जाते हैं, तथा गले में गाठ पैदा हो जाती है; और यहां तक देखने में आया है कि बहुत से मांसाहारी कुष्ठादि रोग से पीड़ित होकर परम कष्ट सहते हुए मरभी जाते है। जो कोई इन कष्टों से बच भी जाता है तो उसमें पापानुबन्धी पुण्य का उदय ही कारण समझना चाहिए। अर्थात् जब उस पुण्य का क्षय होगा तब जन्मान्तर में वह अत्यन्त दुःख का अनुभव करेगा।

गोस्वामी तुलसीदास जी कहगये हैः—

“ जबतक पुरबिल पुण्यकी पूजी नहीं करार।
तबतक सब कुछ माफ है औगुन करो हजार ”॥ १॥

प्रायः मांसाहारी की मृत्यु भी विशेष दुःख से ही होती है और उसके मृत्यु के समय कितनेही स्पष्ट तथा गुप्त रोग उत्पन्न होते है, इस बात का लोग प्रायः अनुभव किया करते है।

मनुष्यों की स्वाभाविक प्रकृति फलाहारीही है क्योंकि मांसाहारी जीवों के दाँत मनुष्य के दाँतो से विलक्षण होते है और जठराग्नि भी उनकी मनुष्यों से भिन्न प्रकार की ही होती है, तथा स्वभाव भी विचित्र दिखलाई देता है, एवं समस्त मांसाहारी जीव जिह्वा ही से जल पीते है किन्तु मनुष्य जाति तो मुख से पीती है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य की जाति स्वाभाविक मांसाहारी नहीं है, फिरभी जो

मांस खाते है वे पलाद (पलमत्तीति पलादः) गिने जाते हैं।

मुसलमान और हिन्दुओं में खान पान ही से विशेष भेद है, क्योंकि मुसलमान के हाथ का जल हिन्दू नहीं पी सकते और न प्रायः उनके आसन पर बैठ सकते है, किन्तु उन्हें हिन्दुओं के हाथ का पानी और उनके आसन के ग्रहण करने में कोई परहेज़ नहीं है। उसमें कारण यह है कि मुसलमान अपने भोजन में प्रधान मांसही रखते है। यदि हिन्दू भी वैसाही करने लगें तो फिर परस्पर भेदही क्या रहेगा ? अर्थात् जैसे प्रायः सभी मुसलमान बकरीद के दिन बकरे वगैरह जानवरों की जान लेते हैं, वैसेही बहुत से हिन्दू लोग नवरात्र में बकरे आदि जीवों को मारते है; एव जैसे मुसलमान अपनी दावत में यदि मत्स्यमांस का विशेष व्यवहार करते है तो वह दावत उत्तम गिनी जाती है, वैसेही यदि श्राद्ध में हरिणादि मांस का व्यवहार हिन्दू लोग करें तो वह श्राद्ध उत्तम गिना जाता है; तथा जैसे मुसलमान लोग खुदा के हुक्म से जीव मारने में पाप न मानकर खुदा के हुक्म की तामीली करने से खुश होते है, वैसेही हिन्दूलोग देव-पूजा–यज्ञक्रिया-मधुपर्क-श्राद्धादि में जीवहिंसा को हिंसा न मानकर अहिंसाही मानते हैं; इतनाही नहीं, बल्कि मरनेवाले और मारनेवाले दोनों की उत्तम गति मानते है। अब यहां पर मध्यस्थ दृष्टि से विचार करने पर हिन्दू और मुसलमानों में बहुत भेद मालूम नहीं पड़ता, क्योंकि जो हिन्दूलोग मांस नहीं खाते और मुसलमानों के हाथ का जल नहीं पीते हैं वे तो ठीकही है किन्तु मांसाहार करने परभी जो हिन्दू सफाई दिखाते है वह उनका बिलकुल पाखण्डही है, क्योंकि दोनों मरकर बराबर दुर्गति पावेंगे, अर्थात् दोनों एकही रास्ते पर चलनेवाले है। इसपर कबीर ने कहा है:–

" मुसलमान मारे करद सो हिन्दू मारे तरवार।
कहैं कबीर दोनों मिलि जैहैं यम के द्वार "॥

इसीसे मासाहारकरनेवाले हिन्दू आर्य नहीं कहेजासकते क्योंकि

आर्य शब्द से वेही लोग व्यवहार करने योग्य है जिनके हृदय में दयाभाव, प्रेमभाव, शौच आदि धर्म विद्यमान हैं, किन्तु मांसाहारी के हृदय में न तो दयाभाव रहता है और न प्रेमभाव।

एक मांसाहारी (जिसने उपदेश पाकर मांसाहार त्याग दिया) मुझे मिला था, वह जब अपनी हालत कहने लगा तो उसकी आंख से अश्रुपात होने लगा। अश्रुपात होनेका कारण जब मैंने उससे पूछा तो वह कहने लगा कि मेरे समान निर्दय और कठोरहृदय, इस दुनियां भर में थोड़ेही पुरुष होंगे। क्योंकि कुछदिन पहले मैंने एक बड़े सुन्दर बकरे को पाला था, वह मुझे अपना प्रेम पुत्रसे भी अधिक दिखलाता था और मै भी उससे बहुत प्रेम करता था, अतएव वह प्रायः दाना चारा मेरे हाथ से दिये बिना नहीं खाता था और जब मै कहीं बाहर चला जाता था और आने में दो चार घण्टे की देर हो जाती थी तो वह रास्ते को देख२ कर ब्यॉ२ किया करता था, अगर कहीं एक दो दिन लग जाता था तो चारा पानी बिलकुल नहीं खाता था और मेरे आने पर बड़ा आनन्द प्रकट करता था; उसी बकरे को मैंने अपने हाथसे मांस के लिए मार डाला और उस मांस को आए हुए पाहुनों (प्राघूर्णिक) के साथ मैंने भी खाया। यदि उस बकरे के मरनेकी हालत मै आपके सामने कहूँ तो मुझे आप पूरा चाण्डाल ही कहेंगे। हा ! जब २ वह बकरा मुझे याद आता है तब २ मेरा कलेजा फटने लगता है, इसलिये मै निश्चय और मजबूती से कहता हूं कि जो मासाहार करता है वह सबसे भारी पापी है क्योंकि अन्य अकृत्यों से जीवहिंसा ही भारी अकृत्य है।

यदि कोई यह कहे कि हम मारते नहीं और न हमें हिंसा होती है तो यह कथन उसका वृथा है क्योंकि यदि कोई मांस न खावे तो कसाई बकरे को जबह क्यों करें। अत एव धर्मशास्त्र में भी एक जीव के पीछे आठ मनुष्य पातक के भागी गिने गये है। यथा—

" अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।

संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः" ॥ १ ॥

भावार्थ– मारने में सलाह देनेवाला; शस्त्र से मरेहुए जीवों के अवयवों को पृथक् २ करनेवाला, मारनेवाला, मोललेनेवाला, बेचनेवाला, सँवारनेवाला, पकानेवाला और खानेवाला ये सब घातकही कहलाते है ।

यहाँ पर कोई कोई मासाहारी लोग यह प्रश्न करते है कि फलाहारी भी तो घातकही है क्योंकि शास्त्रकारों ने पौधों में भी जीव माना है, फिर फलाहारी और धर्मान्ध पुरुष केवल मासाहारी ही पर व्यर्थ आक्षेप क्यों करते है ? । इसका उत्तर यह है कि जीव अपने२ पुण्यानुसार जैसे २ अधिकाधिक पदवी को प्राप्त करते है वैसे २ अधिक पुण्यवान् गिने जाते है, इसी कारण से जो एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय रूप से जगत में जीवों के मूल भेद पांच माने गए है, उनमें एकेन्द्रिय जीव से द्वीन्द्रिय अधिक पुण्यवान् होता है और द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय, तथा त्रीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय–इस तरह सर्वोत्तम जीव पञ्चेन्द्रिय समझना चाहिए । और पञ्चेन्द्रिय में भी न्यूनाधिक पुण्यवाले है; अर्थात् तिर्यक् पञ्चेन्द्रिय (बकरा, गौ, भैसे आदि) में हाथी अधिक पुण्यवान् है, और मनुष्यवर्ग में भी राजा, मण्डलाधीश, चक्रवर्त्ती और योगी अधिक पुण्यवान् होने से अवध्य गिने जाते है, क्योंकि संग्राम में यदि राजा पकड़ा जाता है तो मारा नहीं जाता । इससे यह सिद्ध हुआ कि एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय के मारने में अधिक पाप होता है, एव अधिक २ पुण्यवान् के मारने से अधिक २ पाप लगता है । इसलिए जहातक एकेन्द्रिय जीव से निर्वाह हो सके, वहातक पञ्चेन्द्रिय जीव का मारना सर्वथा अयोग्य है । यद्यपि एकेन्द्रिय जीव का मारना भी पापबन्ध का कारणही है किन्तु कोई उपायान्तर न रहने से गृहस्थों को वह कार्य अगत्या करनाही पड़ता है । अत एव कितनेही भव्य जीव इस पाप के भय से धन, धान्य, राज, पाट

वगैरह छोड़कर साधु होजाते है, और अपने जीवनपर्यन्त अग्नि आदि को भी नहीं छूते, तथा भिक्षामात्र से उदरपोषण करलेते है। गृहस्थ भी जो अगत्या एकेन्द्रिय का नाश करते है उस पाप के परिहार के लिए साधुओं की सेवा, दान, धर्म और दोनों सन्ध्या आदि पुण्यकृत्य जन्मभर किया करते है।

भिक्षामात्रजीवी साधुओं के ऊपर आरम्भ का दोष नहीं है, क्योंकि गृहस्थ लोग जो अपने लिए आहार बनाते है उसमें वे लोग अत्यन्त आवश्यक तथा निर्दोष पदार्थ मात्र को ग्रहण करते है तिसपर भी गृहस्थों को यह नहीं मालूम रहता कि आज मेरे घर साधुलोग भिक्षा लेने आवेंगे। अनायास ही भोजन के समय गृहस्थ के घर पर साधु जाकर समयोचित आहार ग्रहण करता है जिससे कुछ भी दोष पूर्वकाल या उत्तर काल में उसे नहीं लगता।

यदि यहां पर कोई यह प्रश्न करे कि तब साधुओं को सन्ध्यादि क्रिया करने से क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर यह है कि आहार नीहारादि के लिए उपयोगपूर्वक भी गमनागमन क्रिया करने में जो अनुपयोगरूप से दोष लगता है उसके प्रायश्चित्तनिमित्त ही वह क्रिया की जाती है।

महाशय! लोक व्यवहार से अनुभव द्वारा विचार करने पर एक सामान्य न्याय दिखाई पडता है कि "जैसा आहार वैसा विचार" याने उत्तम आहार खाने से उत्तमही विचार उत्तपन्न होगा और मध्यम आहार से मध्यम, किन्तु तुच्छ आहार करनेसे तुच्छही विचार होगा, इसलिए समस्त दर्शनवालों के महात्मालोग जब योगारूढ़ होते है तब उनका आहार कैसा अल्प होता है वह भी देखने ही के लायक है। तात्पर्य यह है कि सर्वोत्तम आहार में मूँग की दाल और चावल तथा उसके साथ में वनस्पति की किसी प्रकार की तरकारी गिनी गई है, क्योंकि भात हलका और पौष्टिक भोजन है, इसीलिए प्रायः समस्त देशोंमें वह भोजन श्रेष्ठ गिना

जाता है और प्रायः चावल खानेवाले बुद्धिमान् ही दिखाई पडते हैं । वर्तमान के अल्पज्ञ और रसनेन्द्रिय के लोभी, ऐसे उत्तम भोजन में कुत्सित मास को मिलाकर भातके सर्वोत्तम और स्वतन्त्र (बुद्धि वढ़ानेवाले) गुण को नष्ट कर देते है । और वाकी वचे हुए गुण को भी जो मांसादि का ही गुण मानते है, वह उनकी कितनी भारी भूल है । अगर मछली मांस को छोड कर- के दाल भात का ही आहार रक्खा होता तो आज दिन वङ्गाल वगैरह देश बुद्धिवल में बहुतही वढ़ जाते, अतएव इङ्गलेन्ड जो आ- जकल बुद्धिवल में तेज है वह भी भात का ही प्रताप है । यद्यपि बुद्धिवल मुख्य गुण आत्मा का ही है तथापि वायु के वेग से वह मलिन हो जाता है, और मासाहार वायु को विशेष बढाता है । अतएव केवल मांसाहार करनेवाला जगली (निर्बुद्धि) गिना जाता है । जो किसी २ देश में मनुष्य, विशेष बुद्धिमान् होते हैं उसका भी कारण उस देश में वायु का प्रकोप कम होनाही मानना चाहिये । जिस आहार में वायु का प्रकोप कम होता है वह आहार उत्तम गिना जाता है, जैसे चावल, दाल, और वनस्पति वायु को नहीं बढाते, इसलिए वह उत्तम ही भोजन है; परन्तु गेहूँ की रोटी, उडद की दाल मध्यम आहार गिना जाता है, क्योंकि उसमें वुद्धि की वृद्धि और हानि दोनों का प्रायः सभव है, किन्तु वायुकारक होने से सबसे अधम मासही का आहार गिना गया है । अतएव मनुष्यों को उत्तम आहारही ग्रहण करना योग्य है और अधम सर्वथा त्याज्य है । जिस देश में मासाहार का विशेष प्रचार है वह देश इतिहासों से असभ्य सिद्ध होता है, किन्तु भारतवर्ष सर्वदा और सर्वथा शिल्पकला, धर्मकला आदि में प्रवीण होने से असभ्य नहीं माना जाता । अब रही वात यह कि जो उसके कितनेही भागों में और कितनीही जातियों तथा धर्मों में मासाहार प्रवेश करगया है उसका कारण यह है कि श्रीमहावीर स्वामी के वाद वारह वर्ष का दुष्काल तीन वार पड़गया, उस

समय अन्न के अभाव होने से बहुत मनुष्य अपने २ प्राण की रक्षा के लिए मांसाहारी बनगए, किन्तु धीरे २ अकाल की निवृत्ति होने परभी मांसाहार का अभ्यास दूर न हुआ। अतएव जैन साधुओं का विहार सर्वथा पूर्व देशादि में शुद्धाहार के न मिलने से तथा मुसलमानों के उपद्रव होने से बन्द होगया था, इसलिए लोगों को अहिंसा धर्म का उपदेश नहीं मिला।

कितने ही कल्याणाभिलाषी भव्य जीवों ने मांसाहारी ब्राह्मणों से यह प्रश्न किया कि महाराज ! मांसाहार करने वाले को शास्त्रों में भारी दण्ड लिखा है अर्थात् पशु की देह पर जितने रोम होते हैं उतने हजार वर्ष मारनेवाला नरक के दुःख का अनुभव करता है तो अपने लोगों की मांसखाने से क्या गति होगी ? इसके उत्तर में ब्राह्मणों ने कहा कि अविधिपूर्वक मांस खाने से ही नरक होता है, किन्तु विधिपूर्वक मांस खाने से धर्म ही होता है । अतएव तुम लोग भी यदि देवपूजा, या श्राद्धादि मे मांस खाओगे तो हानि नहीं होगी। इसी तरह साथही साथ पूर्वोक्त बात का उपदेश भी करना प्रारम्भ कर दिया और जैसा मन में आया वैसे श्लोक भी बना दिये।

देखिये स्वार्थ और इंद्रियस्वाद में लुब्ध अपनी झूठी कीर्ति के लिए उन लोगों ने कैसा अनर्थ किया ? क्योंकि विचार करने की बात है, यदि हिंसाही से धर्म होता हो तो फिर अधर्म किसे कहा जायगा ? क्योंकि मासाहार करने वाले का मन प्राय दुःखित और मलिन रहता है और किसी जीव के देखने पर उसके मनमें यही भाव उत्पन्न होता है कि यह जीव कैसा सुदर है और इसका मांस स्वादिष्ठ तथा पुष्टिकर ही होगा, तथा इससे कितना मास निकलेगा। इसलिए मासाहारी को वन में जानेपर हरिणादि जीवों को देखकर उनके पकडने की ही अभिलाषा उठती है। अथवा तालाव या नदी के किनारे पर मत्स्य को देखकर मारने ही की अभिलाषा उत्पन्न होती है। इसी तरह आठपहर हिंसक जीव रौद्रपरिणामवाला बना रहता है। जैसे व्याघ्र, सिंह, बिल्ली आदि हिंसक जीवों को, खाने के लिए

कोई जीव न मिलने पर भी वैसे कर्मबंधन करने से नरकादि गति अवश्य मिलती है वैसी ही मांसाहारी जीव की दशा जाननी चाहिए। हा ! मांसाहारी जीव सुन्दर पक्षियों का नाश करके जङ्गलों को शून्य कर देते है और सुन्दर वगीचे मे अपने कुटुम्ब के साथ आनन्द से बैठे हुए पक्षियों को बन्दूक वगैरह से मारकर नीचे गिरा देते है। मुझे विश्वास है कि उस समय के बीभत्स दृश्य को दयालु पुरुष तो कभी नहीं देख सकता, लेकिन मांसाहारी तो उसीको देखकर बड़ी प्रसन्नता से मारनेवाले को उत्तेजना देता है कि वाह ! एकही गोली से कैसा निशाना मारा।

यहाँ पर एक यह भी विचारने की बात है कि एक पक्षी को मारनेवाला एकही जीव का हिंसक नहीं है किन्तु अनेक जीवों का हिंसक है, क्योंकि जिस पक्षी की मृत्यु हुई है यदि वह स्त्री जाति है और उसके छोटे २ बच्चे है तो वह माँ के मरजाने से जीही नहीं सकते, फिर उन सबके मरजाने से घोर पापकर्म का बन्ध मारने वाले को होगा। इसलिए कर्मबन्धन होनेसे पहिले ही बुद्धिमान् पुरुषों को चेतना चाहिए।

अब दूसरी बात यह रही कि हिंसा न करने पर भी कितनेही लोग जो पक्षियों को पींजरे में बन्द करते है उसमें भी भारी कर्मबन्ध होता है, याने जो लोग जङ्गल से नये २ पक्षियों को पकड़वाने में हजारों रुपया खर्च करते है और उनके खाने पीने के लिए अनर्थ भी करते है, उन शौकीन और धनाढ्य लोगों को समझना चाहिए कि पक्षियों की वनविषयक स्वतन्त्रता को भङ्ग करके कैदी की भाँति पींजरे में डालकर और अधर्म को धर्म मानकर जो यह समझते हैं कि हम पक्षियों को दाना चारा अच्छा देते है और दूसरों के भय से मुक्त रखते हैं और बाजार में बिकते हुए जीवोंको केवल जीवदयाही से मोल लेकर रक्खा है, सो यह उनका समझना बिलकुल असत्य है क्योंकि यदि उनको भी कोई उनके कुटुम्ब से अलग

करके बंधन में डालकर अच्छा भी खाना पीना दे तो क्या वे उसे अच्छा मानेंगे ? और जो बाजार में पक्षी विकने आते हैं उन्हें यदि कोई न खरीदे तो वेचनेवाले कभी नही ला सकते; क्योंकि मांसाहारी वैसे २ पक्षियों का मांस प्रायः नहीं खाते है । उसमें कारण यह है कि खर्च ज्यादा होकर भी मांस कम मिलता है, इसी लिए जिस देश में पक्षी पालने की चाल नहीं है वहांपर भिन्न २ तरह के लाखों पक्षी रहने पर भी एक भी बाजार में नहीं विकता, क्योंकि बेचनेवाले को पैसा नहीं मिलता है। गुजरात वगैरह देश में नीच, और दूसरे देशोंसे आए हुए प्रायः करके बावा और फकीर लोग ही पक्षियों को पालते है, किन्तु वहां के वासी गृहस्थलोग दयालु होने से पशुशाला में जीवोंको छुडवा देते है । प्रसङ्गवश से यहांपर एक बात यह याद आती है कि समस्त देशो में जिसके कन्या पुत्र नहीं होते है वह अनेक देव देवी की मानता करता है और मन्त्र यन्त्र तन्त्रादि का भी प्रयोग करता है तौ भी उसके सन्तति नहीं होती है। उसका कारण प्राय· यही है कि पूर्व भव में उसने अज्ञान दशा से किसीके बच्चों को अपने मां बाप से वियोग कराया होगा, या पक्षियों को पींजरे में डाला होगा, इसीलिए उस समय उनके बालकों को दुःख देने से इस भवमें उस पापके उदय होनेसे कितनेही लोगों के पुत्र उत्पन्नही नहीं होता और जिनके होता भी है तो जीता नहीं है। यद्यपि निष्पुत्र लोग पुत्रके लिए संन्यासी, साधु, फकीर वगैरह की पूजा करते है, क्योंकि "सेवाधीन सब कुछ है" यह सामान्य न्याय है, यदि किसी समय योगी और फकीर को प्रसन्न देखकर पुत्र प्राप्तिके लिए लोग प्रार्थना भी करते है तो यही करते है कि "महाराज! एक पुत्र की वांछा है उसकी प्राप्ति के लिए कोई उपाय बतलाइये" लेकिन वैसे योगियों और फकीरों को तत्त्वज्ञान तो प्रायः रहता ही नहीं है केवल बाह्याडम्बर ज्यादा रहनेसे लाभकी अपेक्षा जिसमें हानि विशेष होती है उसी कार्य को वे प्रायः बतलाते है। इसमें दृष्टान्त यह है

कि जैसे-चीटियों के विल के पास लोग उनके खाने के लिए आटा और चीनी डालते है, जिससे विशेष चींटी वहा आ जाती है और वही उपाय पुत्रोत्पत्ति का मानते हैं क्योंकि विचारे भोले लोग धर्म-तत्त्व के अनभिज्ञ कर्मप्रकृति के अविश्वासी लाभालाभ को न विचार कर कितनेही देशोंमे ऐसी क्रिया करते हुए पाये जाते है; लेकिन यहाँ पर विशेष विचार का अवसर है कि जव आटा और चीनी डालने से चीटियां वहुतसी इकट्ठी होती है तो अगर वह आटा चीनी कोई जीव खा-जायगा तो वहुतसी चींटियों का सहार होजायगा । प्रायः देखने में भी आया है कि पक्षी आटा खाकर चीटियों का संहार कर डालते है । यह एक वात हुई, दूसरी यह है कि चीटी संमूर्च्छन जीव होने से विना माता पिता से भी उत्पन्न होती है, तो आटा और चीनी के मिलने से हवा का संयोग होने पर नयी चीटियां भी उत्पन्न होती हैं, तव उनकी भी हिंसा होती है, इससे स्पष्ट है कि ऐसे कार्य में धर्म की अपेक्षा अधर्म विशेष है । पुत्र-प्राप्तिका उपाय तो परोपकार, शील, सन्तोष, दया, धर्म वगैरह ही है और ऐसेही धर्मकृत्योंके करने से पुत्र की प्राप्ति हो ससती है । लेकिन सपाप क्रिया करने से वैसा फल नहीं मिलता । अत एव जिसमें लाभ की अपेक्षा हानि विशेष हो वह क्रिया नहीं करनी चाहिए । समस्त तत्त्ववेत्ताओंने परोपकार को ही सार माना है और परोपकार जीवदया का पुत्र है, क्योंकि जैसे विना माता के पुत्र का जन्म नहीं होता वैसे ही दया विना परोपकार नहीं होता है । देखिये इसी परोपकार पर व्यासजी का वचन—

" अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्"॥ १ ॥

अर्थात्—अटारह पुराणों में अनेक वातें रहने पर भी मुख्य दो ही वातें है । एक तो परोपकार, जो पुण्य के लिये है और दूसरा (पर पीडन) दूसरे को दुःख देना, जो पाप के लिए है । अर्थात् परपीड़ा से अधर्म ही होता है और जीवदया रूप परोपकार होने से पुण्यही होता

है और इसीसे स्वर्ग तथा मोक्ष मिलता है । अब लोकव्यवहार से विरुद्ध, अनुभवसिद्ध शास्त्रद्वारा अहिंसा के स्वरूप का यथायत् दिग्-दर्शनमात्र कराया जाता है–

सकल दर्शनकारों ने हिंसा को अधर्म में परिगणित किया है और सबसे उत्तम दयाधर्म ही माना है, इसमें किसी आस्तिक को भी विवाद नहीं है, तौ भी हरएक धर्मवालों को यहां पर शास्त्रीय प्रमाण देनेसे विशेष दृढ़ता होगी, इसलिए हिन्दूमात्र को माननीय मनुस्मृति तथा महाभारत और कूर्मादिपुराणों की साक्षी समय २ पर दी जायगी।

उनमें पहिले मनुस्मृति को देखिये–

" **योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।**
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते " ॥

निर्णयसागर की छपी म० अ० ५ श्लो० ४५ पृ० १८७

अर्थात्–आहिंसक (निरपराधी) जीवों को जो अपने सुख की इच्छा से मारता है वह जीता हुआ भी मृतप्राय है क्योंकि उसको कहीं सुख नहीं मिलता ।

तथा

" **यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणिनां न चिकीर्षति ।**
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते"॥ ४३ ॥

भावार्थ–प्राणियों के वध, बन्ध आदि क्लेशों के करने को जो नहीं चाहता वह सबका शुभेच्छु अत्यन्त सुख रूप स्वर्ग अथवा मोक्ष को प्राप्त होता है ।

और भी देखिये–

" **यद् ध्यायति यत् कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च ।**
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन"॥ ४७ ॥

तात्पर्य–जो पुरुष दंश मशकादि सूक्ष्म अथवा बडे जीवों को नहीं मारता है वह अभिलषित पदार्थ को प्राप्त होता है और जो करना चाहे वही कर सकता है या जहां पुरुषार्थ ध्यानादि में लक्ष्य

चाहे उसे अनायासही पा जाता है अर्थात् अहिंसा करनेवाला प्रतापी पुरुष जो मन में विचारे उसे तुरन्त ही पासकता है ।

और यह भी लिखा है कि—

" नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्" ॥४८॥

भावार्थ—प्राणियों की हिंसा किए विना मास कहीं पैदा नहीं होता, और प्राणिका वध स्वर्गसुख नहीं देता, इसलिए मांस को सर्वथा त्याग करदेना ही उचित है ॥ और भी वहीं कहा है—

" समुत्पत्तिं च मांसस्य वधवन्धौ च देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् " ॥ ४९ ॥

तात्पर्य—मांस की उत्पत्ति, और प्राणियों का वध तथा बन्ध को देखकर सर्व प्रकार के मासभक्षण से मनुष्य को निवृत्त होना चाहिये ।

विवेचन—पूर्वोक्त मनुस्मृति के पञ्चम अध्याय के ४४ से ४९ तक के श्लोकों का रहस्य जाननेवाला कदापि मासभक्षण नहीं करेगा । क्योंकि सीधा रास्ता छोडकर विवादास्पद मार्ग में चलने की कोई भी हिम्मत नहीं करेगा । ४९ वें श्लोक में सब मांसों के भक्षण से निवृत्त होने का मनुजी ने उपदेश किया है । इससे विधिपूर्वक मास खाने से दोष नहीं माननेवालों का पक्ष सर्वथा निर्बल ही है; क्योंकि देवताओं की मासाहार करने की प्रकृतिही नहीं है । यदि सौ मन मास देवता के सामने रक्खा जाय तो भी एक छटाँक भी कम नहीं होगा । दस बकराओं को अगर देवता के मन्दिर में रात को रखकर चारो तरफ उस मन्दिर की रक्षा की जाय फिर प्रातःकाल अगर मन्दिर खोलकर देखा जाय तो उन दस बकरों में से एक भी कम नहीं होगा । इससे यह स्पष्ट होता है कि मासमात्र के लोभी लोग, विचारे भोले भाले लोगों को भरमाकर नाहक दूसरे के प्राणों का नाश कराते है । अपनी जिह्वा की क्षणभर तृप्ति के लिये विचारे जीवों के जन्म को नष्ट कराते हैं ।

कई एक भक्तलोग देवी के सामने मनौती करते है कि " हे

माता जी ! मेरा लड़का यदि अमुक रोग से मुक्त होगा तो मै आपको एक बकरा चढाऊँगा " । अगर कर्म के योग से बालक के आयुष्य बलसे आरामी हुई तो मानता करनेवाले लोग समझते है कि माता जी ने कृपा करके मेरे लड़के का जीवदान दिया, तब खुशी होकर निरपराधी बकरे को बाजे गाजे के साथ भूषित करके देवी के पास लेजाते हैं और वहांपर उसको नहलाकर और फूल चढाकर तथा ब्राह्मणों से स्वर्ग को प्राप्त करानेवाले मन्त्रों को उसके मारने के समय पढ़ाकर बकरे का प्राण निर्दय रीति से निकालते हैं—यहांपर एक कवि का वाक्य याद आता है कि:—

" माता पासे बेटा मांगे कर बकरे का साँटा ।
अपना पूत खिलावन चाहे पूत दूजे का काटा ।
हो दिवानी दुनियां " ।

देखिये ! दूसरे के पुत्र को मार कर अपने पुत्र की शान्ति-चाहनेवाली स्वार्थी दुनियां को । यहॉपर ध्यान देना उचित है कि पहिले मानतारूप कल्पना ही झूठी है, अगर मानता से देवी आयुष्य को बढ़ाती होती तो दुनियां में कोई मरता ही नहीं, जो लोग मानता मानते है उनसे अगर शपथपूर्वक पूछा जाय तो वह भी अवश्यही यह स्वीकार करेंगे कि सभी मानता हमलोगों की फलीभूत नहीं होती । कितनी ही दफे हजारों मानता करने पर भी पुत्रादि मरण को प्राप्त ही होता है । अतएव मानता दोनों प्रकारसे व्यर्थ ही है— क्योंकि रोगी की अगर आयुष्य है तो कभी मरनेवाला नहीं है तब मानता का कोई प्रयोजन नहीं है, और यदि आयुष्य नहीं है तो बचनेवाला नहीं है, तौ भी मानता निष्फल है ।

और भी विचारिये कि यदि बकरे की लालच से देवी तुह्मारे रोगों को नष्ट करेगी तो वह तुह्मारी चाकरानी ठहरी, अथवा रिश्वत (घूस) लेनेवाली हुई क्योंकि जिससे माल मिले उसका तो भला करे और जिससे न पावे उसका भला न करे । घूस खानेवाले की

दुनिया में कैसी मानमर्यादा होती है सो पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं।

महाशय ! माता शब्द का अर्थ पहिले विचारिये कि जो सर्वथा पालन पोषण करती है वही माता कही जाती है और जिसके पास बकरे का बलिदान किया जाता है वह जगदम्बा के नाम से दुनियां में कैसे प्रसिद्ध हो सकती है। क्योंकि जो समस्त जीवोंकी माता है वही जगदम्बा कही जा सकती है, तो समस्त जीवोंके बीचमें बकरा आदि भी (जो बलि दिये जाते है) आये उनकी भी तो माता ही ठहरी न ? अब सोचिये कि एक पुत्र को खाकर माता दूसरे को बचावे क्या कभी ऐसा होसकता है ? क्योंकि माताके सभी पुत्र समान ही होते है। अज्ञानी लोग स्वार्थान्ध होकर माता की मर्जी से विरुद्ध आचरण करके जीव हिंसा के लिए साहस करते है, उसीकारण से इस समय महामारी, हैजा प्लेग आदि महाकष्ट को लोग भोगते हैं। क्योंकि माता हाथ में लाठी लेकर नहीं मारती केवल परोक्ष रीति से मनुष्यों की अनीति का दण्ड देती है। मैने स्वय देखा है कि विन्ध्याचल में देवीजी का मन्दिर है, वहा पर हजारों सस्कृत के पण्डित विशेष करके नवरात्र में मिलते है और प्रात काल से लेकर सन्ध्या समय तक वे लोग समस्त सप्तशती (दुर्गा पाठ) का पाठ करते है।जिसमें कि दुर्गा की भक्ति की प्रशंसा ही है किन्तु वहा पर अनाथ, निर्नाथ, और गरीब से गरीब बकरे और पाठे का बलिदान जो देते हैं वह देखकर उनके भक्तों के मन में भी एक दफे शङ्का होती है कि ऐसी हिंसा करके पूजा करना कहा से चला होगा ? माता भी अपने पुत्र के मारने से नाराज होकर हैजा आदि रूपसे उपद्रव करती है तब ब्राह्मण वगैरह भागते है और कितनेही लोग बकरे के मार्गानुगामी होते है। यह बात बहुत बार लोगों को प्रत्यक्ष देखने में आती है, और स्वयं अनुभव किया जाता है; तथापि पकडी हुई गदहे की पूँछ को छोड़तेही नहीं। माता की भक्ति बकरे मारने से

ही नहीं होती है। अपने २ मत में मानी हुई काली, महाकाली, गौरी, गान्धारी, अम्बा, दुर्गा वगैरह की सेवा उत्तम २ पदार्थों को चढ़ाकर करनी चाहिए। कितनेही लोग दुर्गापाठ की साक्षी देकर पशुपूजा के लिए आग्रह करते है, उनलोगों को समझना चाहिये कि "पशुपुष्पैश्च धूपैश्च" यह जो पाठ है उसमें विचार कीजिए कि पुष्प को जैसे साबूत (समूचा) चढा देते हैं वैसे ही पशु को भी चढ़ादेना चाहिए याने चढते समय यह प्रार्थना करनी चाहिए कि हे जगदम्ब! आपके दर्शन से जैसे हमलोग अभय और आनन्द से रहते है वैसे ही तुह्मारे दर्शन से पवित्र हुआ यह बकरा जगत् में निर्भय होकर विचरे। अर्थात् किसी मांसाहारी की छुरी उसके गले पर न फिरे। ऐसा संकल्प करके बकरे को छोड़ना चाहिए, जिससे कि पुण्य हो और माता भी प्रसन्न हो, तथा जगदम्बा का सच्चा अर्थ भी घटित हो जाय। अन्यथा जगदम्बा नाम रहने पर भी जगद्भक्षिणी हो जायगी।

महानुभव! मनुजी ने ४८ और ४९ वें श्लोक में प्राणियोंके वध से स्वर्ग का निषेध स्पष्ट दिखलाया है। यदि कदाचित् उन श्लोकों को कल्पित मानोगे तो मांसाहार से स्वर्ग होता है यही कल्पित क्यो न माना जाय? जब कि दोनों कल्पित नहीं है तो यही दोनों श्लोक बलवान् है और बलवान् से दुर्बल बाधित होता है। और देखिये उसी अध्याय के ५३-५४-५५ श्लोकों को:—

"वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद् यस्तयोः पुण्यफलं समम्" ॥५३॥

भावार्थ—वर्ष २ में एक पुरुष अश्वमेध करके सौवर्ष तक यज्ञ करे और एक पुरुष बिलकुल कोई मांस न खाय तो उनदोनों का समान ही फल है।

"फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः।
न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात्" ॥ ५४ ॥

अर्थात् जो पवित्र फल मूलादि तथा नीवारादि के भोजन करने से भी फल नहीं मिलता वह केवल मासाहार के त्याग करने से ही मिलता है।

" मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः " ॥५५॥

याने जिसका मास मैं यहां खाता हूं वह मुझको भी जन्मान्तर में अवश्यही खायगा–ऐसा " मास " शब्द का अर्थ महात्मा पुरुषों ने कहा है।

विवेचन–५३ वें श्लोक में लिखा है कि, सौ वर्ष तक अश्वमेध यज्ञ करने से जो फल मिलता है वह फल मासाहार मात्र के त्याग करने से होता है। हिन्दू शास्त्रानुसार अश्वमेध की विधि करना इस समय बहुत कठिन है, क्योंकि पहिले तो समस्त पृथ्वी जीतना चाहिये, तब अश्वमेध यज्ञ करने का अधिकारी होता है और तिसपर भी लाखों रुपये खर्च होते हैं और इतने पर भी हिंसाजन्य दोष होता ही है ऐसा **सांख्यतत्त्वकौमुदी** में दिखलाया है–" **स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्पः** " अर्थात् स्वल्प, सङ्कर याने दोप सहित यज्ञ का पुण्य है, और सपरिहार याने कितने ही प्रायश्चित्त करके शुद्ध करने के योग्य, तथा सप्रत्यवमर्प अर्थात् यदि न होवे तो पुण्य भोगने के समय हिंसा जन्य पाप भी अवश्य सहना पड़ेगा इत्यादि।

यद्यपि इस विषय में वैदिक धर्म को नहीं मानने वाले के साथ विवाद है तो भी मनुजी ने मासाहार त्याग करने से जो फल दिखलाया है वह तो सबके मत में निर्विवाद और अनायाससाध्य होने से सर्वथा स्वीकार करने के योग्य है। ५४ वें श्लोक में लिखा है कि, मुनियों के आचार पालने से जो पुण्य मिलता है वह पुण्य केवल मांसाहार के त्याग करने से ही मिलता है, अर्थात् शुष्क जीर्ण पत्राहारादि से जो लाभ होता है वह लाभ मासाहार के त्याग करने

से होता है। ऐसे सरल, निर्दोष, निर्विवाद, मार्ग को छोड़कर सदोष विवादास्पद, पर के प्राणघातक कृत्यों से स्वर्ग को चाहनेवाले पुरुष को ५५ वें श्लोक पर अवश्य दृष्टि देनी चाहिऐ । मास शब्द की निरुक्ति में ऐसा लिखा है कि "मां" याने मुझको खानेवाला "सः" याने वह होगा, जिसका मांस मै खाता हूँ, ऐसा मांस शब्द का अर्थ मनुजी कहते है, अब मनुजी के वाक्य को मान करके यज्ञादि करने वालों को ध्यान देना चाहिए कि स्वर्ग जाने के लिये बहुत से रास्ते है तो फिर समस्त प्रजा के अनुकूल रास्ते से जानाही सर्वथा ठीक है याने प्रजा वर्ग के प्रतिकूल रास्ते से जाना उचित नहीं है।

पुराणों ने भी पुकार २ कर हिंसा का निषेध किया है। देखिये व्यासजी ने पुराणों में इस तरह कहा है—

"ज्ञानपालीपरिक्षिप्ते ब्रह्मचर्यदयाऽम्भासि ।
स्नात्वाऽतिविमले तीर्थे पापपङ्कापहारिणि" ॥ १ ॥
"ध्यानाग्नौ जीवकुण्डस्थे दमभारुतदीपिते ।
असत्कर्मसमित्क्षेपैरग्निहोत्रं कुरूत्तमम्" ॥ २ ॥
"कषायपशुभिर्दुष्टैर्धर्मकामार्थनाशकैः ।
शममन्त्रहतैर्यज्ञं विधेहि विहितं बुधैः" ॥ ३ ॥
"प्राणिघातात्तु यो धर्ममीहते मूढमानसः ।
स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाऽहिमुखकोटरात्" ॥ ४ ॥

अर्थात्—ज्ञानरूप पाली से युक्त ब्रह्मचर्य और दयारूप जलमय अत्यन्त निर्मल पापरूप कीचड को दूर करनेवाले तीर्थ में स्नान करके ध्यानाग्निमय दमरूप वायु से सतप्त हुआ जीवरूप कुण्ड में असतकृत्यरूप काष्ठों से उत्तम अग्निहोत्रों को करिये। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायरूप दुष्ट पशुओं को (जो धर्म, अर्थ तथा काम को नाश करने वाले है) शमरूप मन्त्र से मार कर पण्डितों से किये हुए यज्ञ को करो । और प्राणियों के नाश से जो धर्म की इच्छा

करता है वह श्यामवर्ण सर्प के मुख से अमृत की वृष्टि चाहता है ।

विवेचन–पूर्वोक्त चारो श्लोकों से अहिंसामय यज्ञ को पाठक-लोग समझ गये होंगे । इस प्रकार यज्ञ करने से क्या स्वर्ग नही मिलेगा ? यदि इस विधि में विश्वास नहीं है तो विवादास्पद सदोष विधि में तो अत्यन्त विश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि हिंसा-जन्य कार्य को वेद के माननेवालों में भी बहुत से विपरीत हैं । देखिये अर्चिमार्गियों के उद्गार–

यथा–

" देवापहारव्याजेन यज्ञव्याजेन येऽथवा ।

घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा घोरां ते यान्ति दुर्गतिम् "॥१॥

भावार्थ–देव की पूजा के निमित्त या यज्ञ कर्म के निमित्त से जो निर्दय पुरुष प्राणियों को निर्दय होकर मारता है वह घोर दुर्गति में जाता है, अर्थात् दुर्गति को पाता है ।

वेदान्तियों के वचन को सुनो–

" अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्ये यजामहे ।

हिंसा नाम भवेद् धर्मो न भूतो न भविष्यति "॥ १ ॥

भावार्थ–जो हमलोग यज्ञ करते हैं वह अन्धकारमय स्थान में डूबते हैं क्योंकि हिंसा से न कदापि धर्म हुआ और न होगा ऐसे वाक्य अनेक जगह में दिखाई पडते हैं । तथापि आग्रह में डूबे हुए पुरुष लाभालाभ का विचार न करके सत्य वस्तु का आदर नहीं करते हैं और न युक्ति को देखते हैं । देखिये व्यासजी ने चौथे श्लोक में कहा है कि यदि सर्प के मुख से अमृत वृष्टि होती हो तो हिंसा से भी धर्म हो सकता है– यह व्यासजी का कैसा युक्तियुक्त वाक्य है और युक्तियुक्त वाक्य किसीका भी हो तो उसके स्वीकार करने को समस्त लोग तैयार होते हैं, फिर व्यास ऐसे कविवर के वाक्य को कौन नहीं मानेगा ? ।

पशु की हिंसा करते हों सो भी नहीं, किन्तु यज्ञस्तम्भ के लिये जिस वृक्ष को प्रसन्न करते है उसके पहिले भी बलिदान करते है फिर उसका मांस यज्ञ के करानेवाले खाते है और वृक्ष का जो यूप बनता हैं उसको जब यज्ञमण्डप में स्थापन करते है उस समय भी बलिदान देते है। यज्ञाश्रित वृक्ष का और यज्ञस्तम्भ का उद्देश करके जो मांस खाते है वह पूर्वोक्त आठवें श्लोक से स्पष्ट मालूम होता है, किन्तु व्यासर्षि ने तो इसको भी स्वीकार नहीं किया, बल्कि तिरस्कार ही किया है।

जिस देव के समीप बलिदान दिया जाता है उसका भजन (पूजन) सुरापानतुल्य है, अर्थात् उसकी सेवा सुरापान के समान पाप का कारण है। यही बात पद्मपुराण (आनन्दाश्रम सीरीज़ में मुद्रित) के अध्याय २८० पृष्ठ १९०८ में कही है कि–

"यक्षाणां च पिशाचानां मद्यमांसभुजां तथा।
दिवौकसां तु भजनं सुरापानसमं स्मृतम्"॥ ९५॥

भावार्थ–यक्ष, पिशाच और मद्यमांसप्रिय देवताओं का भजन सुरापान के समान ही कहा है, अर्थात् सुरापान करने से जो पापबन्ध होता है वही पापबन्ध इन देवताओं के भजन पूजन से भी होता है। फिर भी जो लोग श्राद्ध में मांस खाने का आग्रह करते है उनलोगों ने प्रायः श्रीमद्भागवत के ७ वें स्कन्ध का १५ वां अध्याय नहीं देखा है, यदि देखा होता तो कभी आग्रह नहीं करते। देखिये उसके श्लोक ७ वें और ११ वें को–

"न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद् धर्मतत्त्ववित्।
मुन्यन्नैः स्यात् परा प्रीतिर्यथा न पशुहिंसया"॥७॥
"तस्माद्दैवोपपन्नेन मुन्यन्नेनापि धर्मवित्।
संतुष्टोऽहरहः कुर्यान्नित्यनैमित्तिकीः क्रियाः"॥११॥

भावार्थ–धर्मतत्त्व के ज्ञाता पुरुष तो श्राद्ध में न किसी को

मांस देते है और न खाते है, क्योंकि मुनियों के खानेयोग्य व्रीही आदि शुद्ध अन्न से पितरों को जैसी परम प्रीति होती है, वैसी पशु की हिंसा से नहीं होती । ११ वें श्लोक के पहिले अर्थात् दशवें श्लोक मे कहा है कि यज्ञ करनेवाले को देखकर पशु डरते है कि यह हत्यारा अज्ञानी हमलोगों को मारेगा, क्योंकि यह परप्राण से स्वप्राण का पोषण करनेवाला है । इत्यादि अधिकार के परामर्श करने के लिये ११ वें श्लोक में 'तस्मात्' पद दिया है; इसी कारण से धर्मज्ञ पुरुष दैविक कर्म के योग्य अन्न नीवारादि से, संतुष्ट होकर निरन्तर नैमित्तिक क्रियाओं को करें, परन्तु कोई पुरुष हिंसा कदापि न करे । यदि कोई पुरुष पूर्वोक्त वाक्यपर यह शङ्का करे कि सत्ययुग में ही यज्ञ, श्राद्ध और वलिदान में मांस खानेका निषेध है, किन्तु कलियुग में तो पूर्वोक्त कर्मानन्तर मांस खानाही चाहिये, तो इसके उत्तर में मै यह कहता हूँ कि सर्वजनप्रसिद्ध ब्रह्मवैवर्त पुराण और पाराशर स्मृति में कहे हुए कलियुग में बहुत से कार्य उनको नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस बातके प्रतिपादक श्लोक उसमें ऐसे लिखे है ।

यथा—

"अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम् ।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्" ॥ १ ॥

तथा बृहन्नारदीय पुराण के अध्याय १२ में भी लिखा है कि—

" देवरेण सुतोत्पत्तिर्मधुपर्के पशोर्वधः ।
मांसदानं तथा श्राद्धे वानप्रस्थाश्रमस्तथा" ॥१॥
इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः " ॥

भावार्थ—अश्वमेध, गोमेध, संन्यासी होना, श्राद्धसंबन्धिमांसभोजन, और देवर से पुत्र की उत्पत्ति, ये पांचों बातें कलियुग में वर्जित है । इसी तरह नारदीय पुराण में कहा है कि—कलियुग में देवर से पुत्र की उत्पत्ति, मधुपर्क में पशु का वध, श्राद्ध में मांस का दान और वानप्रस्थाश्रम नहीं करना चाहिये ।

और बृहत्पराशरसंहिता के ५ वें अध्याय में इस तरह मांस का निषेध लिखा है कि–

" यस्तु प्राणिवधं कृत्वा मांसेन तर्पयेत् पितॄन् ।
सोऽविद्वान् चन्दनं दग्ध्वा कुर्य्यादङ्गारविक्रयम् ॥ १ ॥
क्षिप्त्वा कूपे तथा किञ्चित् बाल आदातुमिच्छति ।
पतत्यज्ञानतः सोऽपि मांसेन श्राद्धकृत् तथा " ॥ २ ॥

भावार्थ–जो पुरुष प्राणी का वध करके मांस से पितरों की तृप्ति करना चाहता है वह मूर्ख चन्दन को जलाकर कोयलों को बेचना चाहता है, अर्थात् उत्तम वस्तु को जला देता है । और किसी पदार्थ को कूएँ में छोड कर फिर उसे लेनेकी इच्छा से बालक जैसे अज्ञान के वश स्वयं कूएँ में गिर पड़ता है, वैसेही मांस से श्राद्ध करनेवाले अज्ञान के प्रभाव से दुर्गति को पाते हैं ।

यज्ञ में हिंसा करने से धर्म नष्ट होता है इस बात को सूचन करनेवाला महाभारत (वेङ्कटेश्वर प्रेस में छपा हुआ) आश्वमेधिक पर्व ९१ अध्याय पृ० ६३ में लिखा है–

यथा–

" आलम्भसमयेऽप्यस्मिन् गृहीतेषु पशुष्वथ ।
महर्षयो महाराज ! बभूवुः कृपयाऽन्विताः " ॥११॥
" ततो दीनान् पशून् दृष्ट्वा ऋषयस्ते तपोधनाः ।
ऊचुः शक्रं समागम्य नायं यज्ञविधिः शुभः " ॥१२॥
" अपरिज्ञानमेतत्ते महान्तं धर्ममिच्छतः ।
न हि यज्ञे पशुगणा विधिदृष्टाः पुरन्दर !" ॥१३॥
" धर्मोपघातकस्त्वेष समारम्भस्तव प्रभो ! ।
नायं धर्मकृतो यज्ञो न हिंसा धर्म उच्यते" ॥१४॥
" विधिदृष्टेन यज्ञेन धर्मस्तेषु महान् भवेत् ।
यज्ञबीजैः सहस्राक्ष ! त्रिवर्षपरमोषितैः " ॥१६॥

भावार्थ–हे युधिष्ठिर ! यज्ञ मण्डप में अध्वर्यु लोगों से वध समय में पशुओं के ग्रहण करने पर ऋषि लोग कृपावन्त हुए। उसी-समय दीन पशुओं को देख करके तपोधन–ऋषिलोग इन्द्र के पास जाकर बोले कि–हे बडे धर्म की इच्छा करने वाले इन्द्र ! यह यज्ञ-विधि शुभ नहीं है, किन्तु तेरा अज्ञानमात्र है; क्योंकि यज्ञ में पशूसमूह विधिदृष्ट नहीं है, बल्कि यह तेरा समारम्भ धर्म का घात करनेवाला है; इस यज्ञ से धर्म नहीं होगा, क्योंकि हिंसा, धर्म नहीं गिना जाता है। इसीसे केवल विधि से दिखलाये हुए यदि तीन वर्ष के पुराने बीज से यज्ञ करोगे तो विशेष धर्म होगा।

विवेचन–पूर्वोक्त श्लोकों के बाद ऋषि और देवताओं के साथ यज्ञ विषयक वाद-विवादवाला हिंसामिश्रितधर्मनिन्दा नाम का संपूर्ण अध्याय है। जो राजा वसु ने देवताओं का पक्ष लेकर अर्थ का अनर्थ किया इसलिये वह नरक में गया, यह बात सर्वजनविदित है। इसी प्रकार का अधिकार महाभारत शान्तिपर्व मोक्षाधिकार अध्याय ३३५ पत्र २४३ में भी है। यथा–

युधिष्ठिर उवाच–

" यदा भागवतोऽत्यर्थमासीद् राजा महान् वसुः।
किमर्थं स परिभ्रष्टो विवेश विवरं भुवः ?" ॥ १ ॥

भीष्म उवाच–

" अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
ऋषीणां चैव संवादं त्रिदशानां च भारत !" ॥ २ ॥

" अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान्।
स च च्छागोऽप्यजो ज्ञेयो नान्यः पशुरिति स्थितिः" ॥३॥

ऋषय ऊचुः—

" बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि च्छागं नो हन्तुमर्हथ " ॥ ४ ॥

"नैष धर्मः सतां देवाः ! यत्र वध्येत वै पशुः ।
इदं कृतयुगं श्रेष्ठं कथं वध्येत वै पशुः ?" ॥५॥

भीष्म उवाच—

"तेषां संवदतामेवमृषीणां विबुधैः सह ।
मार्गागतो नृपश्रेष्ठस्तं देशं प्राप्तवान् वसुः" ॥६॥

"अन्तरिक्षचरः श्रीमान् समग्रबलवाहनः ।
तं दृष्ट्वा सहसाऽऽयान्तं वसुं ते त्वन्तरिक्षगम्" ॥७॥

"ऊचुर्द्विजातयो देवानेष च्छेत्स्यति संशयम् ।
यज्वा दानपतिः श्रेष्ठः सर्वभूतहितप्रियः" ॥८॥

"कथंस्विदन्यथा ब्रूयादेष वाक्यं महान् वसुः ? ।
एवं ते संविदं कृत्वा विबुधा ऋषयस्तथा" ॥९॥

"अपृच्छन् सहिताऽभ्येत्य वसुं राजानमन्तिकात् ।
भोः ! राजन् ! केन यष्टव्यमजेनाहोस्विदौषधैः ?" ॥१०॥

"एतन्नः संशयं छिन्धि प्रमाणं नो भवान् मतः ।
स तान् कृताञ्जलिर्भूत्वा परिपप्रच्छ वै वसुः" ॥११॥

"कस्य वै को मतः कामो ब्रूत सत्यं द्विजोत्तमाः ! ।
धान्यैर्यष्टव्यमित्येव पक्षोऽस्माकं नराधिप !" ॥१२॥

"देवानां तु पशुः पक्षो मतो राजन् ! वदस्व नः ।

भीष्म उवाच—

देवानां तु मतं ज्ञात्वा वसुना पक्षसंश्रयात्" ॥१३॥

"छागेनाजेन यष्टव्यमेवमुक्तं वचस्तदा ।
कुपितास्ते ततः सर्वे मुनयः सूर्यवर्चसः" ॥१४॥

"ऊचुर्वसुं विमानस्थं देवपक्षार्थवादिनम् ।
सुरपक्षो गृहीतस्ते यस्मात्तस्माद् दिवः पत" ॥१५॥

भावार्थ—युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से प्रश्न किया कि—भगवान् का अत्यन्त भक्त राजा वसु परिभ्रष्ट होकर भूमितल को क्यों प्राप्त हुआ?,

इसके उत्तर में भीष्मपितामह ने कहा कि विवादकथात्मक पुराना इतिहास यहां तुमसे मैं कहता हूं— कि हे भारत ! ऋषि लोगों का और देवताओं का विवाद इस तरह हुआ कि देवता उत्तम ब्राह्मणों से कहने लगे कि अज से ही यज्ञ करना और अज से बकरा ही लेना दूसरे पशु को ग्रहण नहीं करना, किन्तु ऋषियों ने अपना पक्ष प्रकट किया कि यज्ञ में बीजादि से होम करना, क्योंकि यह वैदिकी श्रुति, अज से बीजही का ग्रहण करती है, इसलिये बकरे का मारना अच्छा नहीं है। हे देवताओ ! यज्ञ में बकरे की हिंसा करना सत्-पुरुषों का धर्म नहीं है, क्योंकि सब युगों से श्रेष्ठ यह सत्ययुग है, इस में पशु को कैसे मारना उचित है ?, इस तरह देवताओंके साथ जब विवाद चलरहा था उसी समय आकाश में चलनेवाला लक्ष्मीवान् समस्त सैन्य वाहनयुक्त श्रेष्ठ राजा वसु उस देश को प्राप्त हुआ, जहां देवता और ऋषि लोग विवाद कर रहे थे। सत्य के प्रभाव से आकाश में रहनेवाले राजा वसु को देखकर ऋषियोंने देवताओं से कहा—कि राजा वसु यज्ञविधि को करानेवाला दानेश्वर सब प्राणियों को हितकर हमलोगों के संशय का छेदन करेगा, क्योंकि यह राजा वसु कभी अन्यथा वाक्य नहीं बोलेगा। ऐसा विचार कर एकत्रित हुए देवता और ऋषि लोग राजा वसु के पास आकर कहने लगे कि—हे राजन् ! किस पदार्थ से यज्ञक्रिया करनी चाहिए ?, अज से या अन्न से ?, हम लोग आपको इस विषय में प्रमाण मानते हैं, अत-एव आप हमलोगों के संशय का निवारण कीजिए। तदनन्तर उन सत्पुरुषों को हाथ जोड के राजा वसु बोला कि—हे ऋषि वर ! आप लोग सत्य कहिये कि किसको कौन मत अभीष्ट है ? ऋषियोंने कहा कि धान्योंसे ही यज्ञ करनेका तो हमलोगों का पक्ष है, और देवता-ओं का पक्ष पशुकी हिंसा करके यज्ञ करनेका है। अत एव हे राजन् ! आप हमलोगों के इस संशय को हटाइए । तदनन्तर देवताओं के मत को जानकर वसु ने देवताओं के पक्ष का ही आश्रयण किया

अर्थात् अजशब्द का छाग ही अर्थ है यह बात पक्षपात के आवेश में होकर कह दिया, अर्थात् अज शब्द का अर्थ बकरा ही करके यज्ञ करना चाहिये। ऐसा जब उसने कहा तब तो सूर्य के समान तेजस्वी मुनिलोग क्रुद्ध हुए और विमानस्थ देवपक्षपाती राजा वसु को शाप दिया कि जो तुमने पक्षपात से देवताओंका ही पक्षग्रहण किया है इसलिये आकाश से तुम्हारा पृथ्वीपर पात हो, अर्थात् तुम नरक को प्राप्त हो। उसके बाद ऋषियों के वाक्य के प्रभाव से राजा वसु नीचे गिरकर नरक में गया।

इन पूर्वोक्त श्लोकों से सिद्ध होता है कि यज्ञ में भी हिंसा करने का विशेष निषेध है। राजा वसुके समान सत्यवादी नराधिप ने भी दाक्षिण्य के आधीन होकर जो अर्थ का अनर्थ कर डाला, इसलिये वह स्वयं अनर्थ का भागी हुआ, और उसके उद्धार के लिये देवताओं ने बहुतही प्रयत्न किया; तो फिर आजकाल के मांसलोलुप जन विचारे भद्रिक स्वर्ग के अभिलाषी प्राणियों के धन का नाश कराकर पूर्वोक्त वाक्यानुसार यजमान को नरकगामी बनाकर स्वयं (यज्ञ करानेवाले) भी नरक में गिरते है। अत एव ऋषियों ने अजशब्द का अर्थ पुराना धान ही किया है। और इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शाब्दादि कोई भी प्रमाण का विरोध नहीं है। इस अहिंसा शास्त्र को प्रमाण (संमान) करनेवाले मुनियों का यह अर्थ है। और तीन प्रकार का अर्थवाद वृद्ध पुरुषों ने जो माना है; उसमें मुनियों का मत केवल भूतार्थवादरूप अर्थवाद है किन्तु गुणवाद, अनुवादरूप नहीं है। क्योंकि गुणवाद विरोध में होता है, जैसे सन्ध्याकरनेवाला कोई पुरुष पत्थर पर बैठा है उस पत्थर को कोई पुरुष यदि "सन्ध्यावान् प्रस्तरः" ऐसा कहे, तो सन्ध्यावान् और प्रस्तर का अभेद प्रत्यक्ष बाधित है, तथापि गुणस्तुतिरूप वाक्य होने से यह गुणवादरूप अर्थवाद माना जा सकता है। किन्तु मुनियों के मत में कोई विरोध नहीं है अत एव वह गुणवाद नहीं है। और निश्चि-

तार्थ में ही अनुवादरूप अर्थवाद होता है। जैसे "अग्निर्हिमस्य भेषजम्" अर्थात् अग्नि हिम का औषधि है, यह बात आबालगोपाल प्रसिद्ध होने पर भी उसीका जो कथन किया गया वह अनुवादरूप अर्थवाद है। प्रस्तुत में मुनियों ने जो अज शब्द का धान्य अर्थ किया है वह प्रायः समस्त प्राणियों में प्रसिद्ध न होने से अनुवादरूप अर्थवाद नहीं हो सकता। और जहाँ पर विरोध और निश्चितार्थ दोनों नहीं है वहाँ भूतार्थवाद ही होता है-जैसे "रावणः सीतां जहार" अर्थात् रावण ने सिता का हरण कर लिया, इसमें न तो कोई विरोध है, और न पहिले ऐसा निश्चय ही था, किन्तु बात तो ठीक ही है, इसी तरह मुनियों का पक्ष भी भूतार्थवाद ही है, परन्तु अजशब्द का पशु अर्थ बतानेवाले देवताओं का पक्ष तो पहिले प्रत्यक्ष प्रमाण से ही दूषित है, तदनन्तर शास्त्रप्रमाण से भी दूषित है, उसीप्रकार अनुभव और लोकव्यवहार से भी दोषग्रस्त है। क्योंकि पशुहनन के समय पशु मारनेवाले पुरुष की मनोवृत्ति, और शरीराकृति, प्रत्यक्ष ही परम क्रूर दिखाई देती है।

पाठकवर्ग! पशुवध से स्वर्ग होना बुद्धिमानों के अनुभव में भी ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि 'यद् दीयते तत् प्राप्यते' अर्थात् जो दिया जाता है वही मिलता है इस न्याय के अनुसार तो सुखदेने-वाला सुख, और दुःखदेनेवाला दुःख, अभय दाता अभय, और भयदेनेवाला पुरुष भय को ही प्राप्त होना चाहिये। किन्तु यज्ञ में जो पशु मारे जाते है वे नतो निर्भय, और न सुखी ही दिखाई देते है, बल्कि भयभ्रान्त और महादुःखी ही दिखलाई पडते है, तो फिर पशु-मारनेवाला स्वर्ग में किस तरह जा सकता है? और लोकव्यवहार में भी कोई उत्तम जाति का पुरुष मृतप्राणी का स्पर्श भी नहीं करता और यदि कोई मरे हुए जीव को छूता है तो वह नीच ही गिना जाता है। अब यह अवसर विचार करने का है कि यज्ञमण्डप में वेद मन्त्रों द्वारा याज्ञिक लोग, बकरे के मुह को यव के आटा

आदि से बन्द करके उसपर मुष्टयादि प्रहार से गतप्राण कर देते है, तदनन्तर उसके अवयवों को अलग अलग करके उसमें से बहुत सा हिस्सा हवन के काम में लाते है किन्तु बहुत सा हिस्सा तो स्वयं खाजाते है, तथा जो कुछ अवशिष्ट भाग उसका बचता है उसको यज्ञ कर्म में भाग लेने के लिए यज्ञ में आये हुए आस्तिकों को प्रसादरूप से देते है। अब इन याज्ञिकों की किस में गणना करनी चाहिये ? इसका विचार में पाठकलोगों के ऊपर ही निर्भर करता हूँ।

पूर्वोक्त बातों से यह सिद्ध किया जाता है कि किसी कारण से भी पशु से यज्ञ करना उचित नहीं है। जब राजा वसु भागवत, दानीश्वर, सत्यवादी, श्रेष्ठ और सब भूतों के प्रियंकर होने पर भी अजशब्द का पशु ही अर्थ मानकर नरक में गये, तो फिर साधारण मनुष्योंकी क्या दशा होगी ? यह विचारणीय है। अब महाभारत अनुशासन पर्व के अध्याय ११६ पृष्ठ १२६ मे युधिष्ठिर ने भीष्मपितामह से जो अहिंसाविषयक प्रश्न किया है कि—मांस खाने से क्या और कैसा दोष होता है ? और उसके त्याग करने से क्या गुण है ?; वही दिखलाया जाता है।

यथा—

युधिष्ठिर उवाच—

"इमे वै मानवा लोके नृशंसा मांसगृद्धिनः।
विसृज्य विविधान् भक्ष्यान् महारक्षोगणा इव" ॥१॥

"अपूपान् विविधाकारान् शाकानि विविधानि च।
खाण्डवान् रसयोगान्न तथेच्छन्ति यथाऽऽमिषम्" ॥२॥

"तत्र मे बुद्धिरत्रैव विषये परिमुह्यते।
न मन्ये रसतः किञ्चिन् मांसतोऽस्तीति किञ्चन" ॥३॥

"तदिच्छामि गुणान् श्रोतुं मांसस्याभक्षणे प्रभो !।
भक्षणे चैव ये दोषास्तांश्चैव पुरुषर्षभ !" ॥ ४ ॥

"सर्वं तत्त्वेन धर्मज्ञ ! यथावदिह धर्मतः ।
किञ्च भक्ष्यमभक्ष्यं वा सर्वमेतद् वदस्व मे" ॥ ५ ॥
"यथैतद् यादृशं चैव गुणा ये चास्य वर्जने ।
दोषा भक्षयतो येऽपि तन्मे ब्रूहि पितामह ! " ॥ ६ ॥

भावार्थ—यह प्रत्यक्ष दृश्यमान मनुष्यलोग, लोक में महाराक्षस की तरह दिखाई देते है, जो नाना प्रकार के भक्ष्यों को छोड़ कर मांसलोलुप मालूम होते है, क्योंकि नाना प्रकार के अपूप (पूआ) तथा विविधप्रकारे के शाक, खंड (चीनी) से मिश्रित पक्वान्न और सरस खाद्य पदार्थ से भी विशेषरूप से आमिष (मांस) को पसन्द करते है। इस कारण इस विषय में मेरी बुद्धि मुग्धसी हो जाती है कि मांस भोजन से अधिक रसवाला क्या कोई दूसरा भोजन नहीं है ? इससे हे प्रभो ! मांस के त्याग करने में क्या २ गुण होते है ? पहिले तो मैं यह जानना चाहताहूँ; पीछे खाने में क्या २ दोष है यह भी मुझे जिज्ञासित है । हे धर्मतत्त्वज्ञ ! यथार्थ प्रमाण के द्वारा यहां पर मुझे भक्ष्य और अभक्ष्य बतलाइये, अर्थात् मांस खाने में जैसा दोष और गुण होता हो वैसा कहिये ।

भीष्म उवाच—

"एवमेतन्महाबाहो ! यथा वदसि भारत ! ।
न मांसात् परमं किञ्चित् रसतो विद्यते भुवि" ॥ ७ ॥
"क्षतक्षीणाभितप्तानां ग्राम्यधर्मरतात्मनाम् ।
अध्वना कर्षितानां च न मांसाद् विद्यते परम्" ॥८॥
"सद्यो वर्द्धयति प्राणान् पुष्टिमग्र्यां दधाति च ।
न भक्ष्योऽभ्यधिकः कश्चिन्मांसादस्ति परन्तप ! "॥९॥
"विवार्जिते तु बहवो गुणाः कौरवनन्दन ! ।
ये भवन्ति मनुष्याणां तान् मे निगदतः शृणुः ॥१०॥
स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात् स नृशंसतरो नरः " ॥११॥

से होता है। ऐसे सरल, निर्दोष, निर्विवाद, मार्ग को छोड़कर सदोष विवादास्पद, पर के प्राणघातक कृत्यों से स्वर्ग को चाहनेवाले पुरुष को ५५ वें श्लोक पर अवश्य दृष्टि देनी चाहिऐ। मांस शब्द की निरुक्ति में ऐसा लिखा है कि "मां" याने मुझको खानेवाला "सः" याने वह होगा, जिसका मांस मै खाता हूँ, ऐसा मांस शब्द का अर्थ मनुजी कहते है, अब मनुजी के वाक्य को मान करके यज्ञादि करने वालों को ध्यान देना चाहिए कि स्वर्ग जाने के लिये बहुत से रास्ते है तो फिर समस्त प्रजा के अनुकूल रास्ते से जानाही सर्वथा ठीक है याने प्रजा वर्ग के प्रतिकूल रास्ते से जाना उचित नहीं है।

पुराणों ने भी पुकार २ कर हिंसा का निषेध किया है। देखिये व्यासजी ने पुराणों में इस तरह कहा है—

"ज्ञानपालीपरिक्षिप्ते ब्रह्मचर्यदयाऽम्भासि।
स्नात्वाऽतिविमले तीर्थे पापपङ्कापहारिणि" ॥ १ ॥
"ध्यानाग्नौ जीवकुण्डस्थे दममारुतदीपिते।
असत्कर्मसमित्क्षेपैरग्निहोत्रं कुरूत्तमम्" ॥ २ ॥
"कषायपशुभिर्दुष्टैर्धर्मकामार्थनाशकैः।
शममन्त्रहतैर्यज्ञं विधेहि विहितं बुधैः" ॥ ३ ॥
"प्राणिघातात्तु यो धर्ममीहते मूढमानसः।
स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाऽहिमुखकोटरात्" ॥ ४ ॥

अर्थात्—ज्ञानरूप पाली से युक्त ब्रह्मचर्य और दयारूप जलमय अत्यन्त निर्मल पापरूप कीचड़ को दूर करनेवाले तीर्थ में स्नान करके ध्यानाग्निमय दमरूप वायु से सतप्त हुआ जीवरूप कुण्ड में असतकृत्यरूप काष्ठों से उत्तम अग्निहोत्रों को करिये। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कपायरूप दुष्ट पशुओं को (जो धर्म, अर्थ तथा काम को नाश करने वाले है) शमरूप मन्त्र से मार कर पण्डितों से किये हुए यज्ञ को करो। और प्राणियों के नाश से जो धर्म की इच्छा

करता है वह श्यामवर्ण सर्प के मुख से अमृत की वृष्टि चाहता है ।

विवेचन—पूर्वोक्त चारो श्लोकों से अहिंसामय यज्ञ को पाठक-लोग समझ गये होंगे । इस प्रकार यज्ञ करने से क्या स्वर्ग नही मिलेगा ? यदि इस विधि में विश्वास नहीं है तो विवादास्पद सदोष विधि में तो अत्यन्त विश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि हिंसा-जन्य कार्य को वेद के माननेवालों में भी बहुत से विपरीत हैं । देखिये अर्चिमार्गियों के उद्गार—

यथा—

" देवापहारव्याजेन यज्ञव्याजेन येऽथवा ।
घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा घोरां ते यान्ति दुर्गतिम् "॥१॥

भावार्थ—देव की पूजा के निमित्त या यज्ञ कर्म के निमित्त से जो निर्दय पुरुष प्राणियों को निर्दय होकर मारता है वह घोर दुर्गति में जाता है, अर्थात् दुर्गति को पाता है ।

वेदान्तियों के वचन को सुनो—

" अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्ये यजामहे ।
हिंसा नाम भवेद् धर्मो न भूतो न भविष्यति " ॥ १ ॥

भावार्थ—जो हमलोग यज्ञ करते है वह अन्धकारमय स्थान में डूबते है क्योंकि हिंसा से न कदापि धर्म हुआ और न होगा ऐसे वाक्य अनेक जगह में दिखाई पड़ते है । तथापि आग्रह में डूबे हुए पुरुष लाभालाभ का विचार न करके सत्य वस्तु का आदर नहीं करते है और न युक्ति को देखते है । देखिये व्यासजी ने चौथे श्लोक में कहा है कि यदि सर्प के मुख से अमृत वृष्टि होती हो तो हिंसा से भी धर्म हो सकता है– यह व्यासजी का कैसा युक्तियुक्त वाक्य है और युक्तियुक्त वाक्य किसीका भी हो तो उसके स्वीकार करने को समस्त लोग तैयार होते है, फिर व्यास ऐसे कविवर के वाक्य को कौन नहीं मानेगा ? ।

मनुजी ने ५३–५४–५५ वें श्लोक में जो अहिंसा मार्ग दिखलाया है वह समस्त मनुष्यों के माननेयोग्य है क्योंकि अहिंसा ही सब कल्याणों को देने वाली है, इस विषय में जैनाचार्यों के वाक्यामृत को देखिये–

> " क्रीडाभूः सुकृतस्य दुष्कृतरजःसंहारवात्या भवो-
> दन्वन्नौर्व्यसनाग्निमेघपटली संकेतदूती श्रियाम् ।
> निःश्रेणिस्त्रिदिवौकसः प्रियसखी मुक्तेः कुगत्यर्गला
> सत्त्वेषु क्रियतां कृपैव भवतु क्लेशैरशेषैः परैः " ॥ १ ॥

भावार्थ–प्राणियों में दयाही करनी चाहिये, दूसरे क्लेशों से कुछ प्रयोजन नहीं है । क्योंकि सुकृत के क्रीड़ा करने का स्थान अहिंसा है अर्थात् अहिंसा सुकृत को पालन करनेवाली है और दुष्कृतरूप धूली को उड़ाने के लिये वायु समान है, संसाररूपी समुद्र के तरने के लिये नौकासमान है, और व्यसनरूप दावाग्नि के शान्त करनेके लिये मेघकी घटा के तुल्य, तथा लक्ष्मी के लिये संकेतदूती है; अर्थात् जैसे दूती स्त्री या पुरुष को परस्पर मिला देती है वैसेही पुरुष का और लक्ष्मी का मेल अहिंसा करा देती है और स्वर्ग में चढ़ने के लिये सोपानपङ्क्ति है, तथा मुक्ति की प्रियसखी कुगति के रोकने के लिये अर्गला अहिंसा ही है ।

विवेचन–अहिंसा ही समस्त अभीष्ट वस्तुओं को देनेवाली है इस पर किसी २ को यह शङ्का उत्पन्न होगी कि ब्रह्मचर्यपालन, परोपकार, सन्तोष, ध्यान, तप, आदि धर्म, शास्त्र में जो कहे हुए है वह व्यर्थ हो जायँगे क्योंकि केवल दया करनेही की सूचना की गई है और अन्य क्लेशों की मनाही की है । उसके उत्तर में समझना चाहिए कि जिसके हृदय में अहिंसा देवी का थोड़ा बहुत प्रतिविम्ब पडा हुआ है उसके हृदय मन्दिर में ब्रह्मचर्य, परोपकार सन्तोष, दान, ध्यान, तप, जपादि समस्त गुणों की श्रेणी बैठी हुई है,

अगर न हो तो दया देवी निरुपद्रव रह ही नहीं सकती। अहिंसारूप सुन्दर बगीचे में दान, शील, तप, भावादि क्यारियां सुशोभित है। और कारुण्य, मैत्री, प्रमोद, और माध्यस्थ्य, ये चार प्रकार की भावनारूप नाली से शान्तिरूप जल इधर उधर बहता है। तथा दीर्घायुष्य, श्रेष्ठशरीर, उत्तमगोत्र, पुष्कल द्रव्य, अत्यन्त बल, ठकुराई, आरोग्य, अत्युत्तम कीर्त्तिलतादि वृक्षों की पङ्क्ति कल्लोल कर रही है, और विवेक, विनयं, विद्या, सद्विचार आदि की सरल और सुन्दर पत्रपाङ्क्तियां प्रफुल्लित होकर फैल रही है, तथा परोपकार, ज्ञान, ध्यान, तप, जपादि रूप पुष्पपुञ्ज भव्यजीवों को आनन्दित कर रहा है, एवं स्वर्ग, अपवर्ग रूप अविनश्वर फलों का बुभुक्षित मुनि आस्वादन कर रहे हैं; ऐसे अहिंसारूप अमूल्य बगीचे की रक्षा के लिये, मृषावाद—परिहार अदत्तादान—परिहार, ब्रह्मचर्य—सेवा, परिग्रह—त्याग रूप अटल अभेद्य (काम क्रोधादि अनादिकाल के अपने शत्रुओं से दुर्लङ्घ्य) किले की आवश्यकता है। विना मर्यादा कोई चीज नहीं रह सकती, अत एव अहिंसारूप अत्युपयोगी बगीचे के बचाने के लिये समस्त धर्मवाले न्यूनाधिक ध्यान सन्ध्याऽऽदि धर्मकृत्यों को करते है, यह बात सर्वथा माननीय है यदि इस बात के न मानने वाले को नास्तिक कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं है। जीवहिंसा के समान दूसरा कोई पाप नहीं है और दया के समान दूसरा कोई धर्म नहीं है। इसलिये हिंसा से कभी धर्म नहीं होता, इसके लिये कहा है कि—

> " यदि ग्रावा तोये तरति तरणिर्यद्युदयते
> प्रतीच्यां सप्तार्चिर्यदि भजति शैत्यं कथमपि ।
> यदि क्ष्मापीठं स्यादुपरि सकलस्यापि जगतः
> प्रसूते सत्त्वानां तदपि न वधः क्वापि सुकृतम् " ॥ १ ॥

भावार्थ—यद्यपि जल में पत्थर तैरता नहीं है, यदि वह भी किसी प्रकार तैरे, और सूर्य पश्चिमदिशा में उदय नहीं होता, यदि वह भी किसी प्रकार उदय हो, और अग्नि कदापि शीतल नहीं

होती, यदि वह भी सीता ऐसी महासती के प्रभाव से शीत हो जाय, एवं पृथ्वी कभी अधोभाग से ऊपर नहीं होती यदि वह भी हो तौ भी प्राणियों का वध कभी सुकृत को उत्पन्न नहीं करेगा। और इसी बात को दृढ़ करने के लिये जैनाचार्यों ने कहा है कि—

"स कमलवनमग्नेर्वासरं भास्वदस्ता-
दमृतमुरगवक्त्रात् साधुवादं विवादात्।
रुगपगममजीर्णाज्जीवितं कालकूटा-
दभिलषति वधाद् यः प्राणिनां धर्ममिच्छेत्" ॥ १ ॥

भावार्थ—जो पुरुष प्राणियों के वध से धर्म की इच्छा करता है वह दावानल से कमल की इच्छा करता है, या सूर्य के अस्त होने पर दिन की वाञ्छा करता है, अथवा सर्प के मुखसे अमृत की अभिलाषा करता है, तथा विवाद (झगड़े) से अपने को अच्छा कहलाना चाहता है, और अजीर्ण से रोग की शान्ति चाहता है और हलाहल (ज़हर) से जीने की इच्छा करता है।

विवेचन—यद्यपि पत्थर जल में तैरता नहीं फिर भी यदि किसी प्रकार तैरे तौ भी आश्चर्य नहीं, किन्तु प्राणियों के वध से पुण्य कदापि नहीं हो सकता। धूममार्गानुसारी कहते है कि हमलोग मन्त्र से पवित्र करके मांस को खाते है, अतएव दोष नहीं लगता, किन्तु पुण्य का ही उपार्जन है, यह बात ठीक नहीं है—क्योंकि विवाहादि कृत्यों में मन्त्र पढ़े जाते है उसमें विपरीत भी फल दिखाई देता है, तब मांसाहार से विपरीत फल क्यों न हो ? मन्त्रसंस्कृत मांस भक्ष्य है और दूसरा अभक्ष्य है, यह कहना मात्र है; किन्तु मासमात्र अभक्ष्य ही है क्योंकि विष को मन्त्र से संस्कृत करोगे तौ भी मारेगा और असंस्कृत रहने पर भी मारेही गा। जान कर खाने में या अनजान से खाने में, जीने के लिये या मरने के लिये, या किसी रीति से खाया जाय तौ भी प्राणनाश ही करेगा। हिंसाजन्य पाप का नाश कभी नहीं होता। बुद्धजी के ही वचनों को देखिये—

" इत एकनवति कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः ।
तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ! " ॥ १ ॥

अर्थात् इस भव से एकानवे कल्प में मैंने शक्ति से पुरुष को मारा था, उससे उत्पन्न हुए पाप कर्म के विपाक से, हे साधुजन ! मै कण्टक से पाद में विद्ध हुआ हूँ । किये हुए कर्म, भवान्तर में भोगनेही पड़ते है, " यादृश क्रियते कर्म तादृश प्राप्यते फलम् " याने जैसा कर्म किया जाता है वैसाही फल मिलता है, कर्म को किसीका भी लिहाज नहीं है पशुमारनेवाला जरूर पाप का भागी-होता है और नरक जाता है ।

यथा–

" यावन्ति पशुरोमाणि पशुगात्रेषु भारत ! ।
तावद्वर्षसहस्राणि पच्यन्ते पशुघातकाः " ॥ १ ॥

भावार्थ–हे भारत ! पशु के शरीर में जितने रोम है उतने हजार वर्ष पशु के घातक नरक में जाकर दुःख भोगते है । याने स्वकृत–कर्मानुसार ताड़न, तर्जन, छेदन, भेदनादि क्रिया को सहते है । ऐसे स्पष्ट लेख रहने पर भी हिंसा में धर्म मानने वाले मनुष्य, महानुभाव भद्रलोगों को भ्रम में डालने के लिये कुयुक्ति देते है कि विधिपूर्वक मांस खाने से स्वर्ग होता है इतनी आज्ञा देने से अविधि से मासखानेवाले लोग भय से रुक जावेंगे और हिंसा भी नियमित ही होगी, इत्यादि कुत्सित विचारों के उत्तर में समझना चाहिए कि अविधि से मास खानेवाले तो अपने आत्मा की निन्दा करेंगे और पश्चात्ताप करेंगे, क्योंकि आत्मा का स्वभाव मांस खानेका नहीं है किन्तु विधिपूर्वक मांस खानेवाले पश्चात्ताप नहीं करते बल्कि धर्म मानकर प्रसन्न होते है, तथा एक दफे मांस का स्वाद लेने से समय २ पर देवपूजा के व्याज से उदर की पूजा करेंगे और हिंसा के निषेध करनेवालों के सामने विवाद करने को तैयार होंगे । तो सोचिये कि यह अनर्थ होगा कि लाभ होगा ? इस बात का विचार

बुद्धिमानों को करना चाहिए। मै कह सकता हूँ कि स्वर्ग की लालच से अन्ध श्रद्धा वाले होकर अनर्थ करते है। सारुय लोग भी मांस-भोजियों के प्रति आक्षेप पूर्वक उपदेश करते हैं।

यथा–

" यूपं छित्त्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते ? " ॥ १ ॥

अर्थात् यज्ञस्तम्भ को छेदकर, पशुओं को मारकर, रुधिर का कीचड करके इसतरह यदि स्वर्ग में गमन हो तो नरक में कौन कर्मसे गमन हो सकेगा, अर्थात् जीव हिंसा के समान पाप दुनियां भर में नहीं है। वैसे क्रूर कर्म करने से यदि स्वर्ग में गमन होता हो तो हिंसा से हीन अतिरिक्त कौन कर्म है कि जो नरक में लेजावे। देखिये तुलसीदास के अहिंसा–पोषक वचनों को।

यथा–

" दया धर्म को मूल है पापमूल अभिमान ।
तुलसी दया न छाड़िए जबलग घट में प्रान " ॥१॥

अर्थात् धर्म का मूल दया है तो हिसा जहॉ होगी वहॉ पर दया का नाम भी नहीं रहेगा। और मूल विना वृक्ष रह नहीं सकता और वृक्ष के विना फल नहीं हो सकता, यह बात साधारण भी मनुष्य समझ सकता है, जैसे कहा है कि–

" दयामहानदीतीरे सर्वे धर्मास्तृणाङ्कुराः ।
तस्यां शोषमुपेतायां कियन्नन्दन्ति ते चिरम् ? " ॥१॥

भावार्थ–दयारूप महानदी के तीर में सभी धर्म तृणाङ्कुर के समान हैं उस नदी के सूख जाने पर वे अङ्कुर कहां तक आनन्दित रहेंगे ?

विवेचन–नदी के तीर में वृक्ष, घास, लता आदि सभी वृद्धि को प्राप्त होते हैं, नदी के जल की शीतल हवा के स्पर्श होने से नवपल्ल-

वित रहते हैं, किन्तु नदी वर्षा के अभाव से यदि शुष्क हो जावे तो उसके आधार से उत्पन्न हुए सपूर्ण वनस्पति नष्ट हो जाते है, वैसे ही दयारूप नदीके अभावसे धर्मरूप अङ्कुर स्थिर नहीं रह सकते। नीतिशास्त्रकार ने भी दया की मुख्यता दिखलाई है।

यथा—

"यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्णच्छेदनतापताडनैः।
तथैव धर्मो विदुषा परीक्ष्यते श्रुतेन शीलेन तपोदयागुणैः"॥१॥

अर्थात् जैसे निघर्षण (कसौटी पर कसना) तथा छेदन (काटने), ताप (तपाने), ताडन (पीटने) आदि से सुवर्ण परीक्षित होता है वैसेही शास्त्र, शील, तप, दया आदि गुणों से विद्वान् पुरुष धर्म की परीक्षा करते है।

विवेचन—जब सुवर्ण के चञ्चल और विनश्वर वस्तु रहने पर भी बुद्धिमान् उसकी परीक्षा करनेको नहीं चूकते, तो यदि अविनश्वर अचल, अनुपम सुख को देनेवाले धर्मरत्न की परीक्षा करें तो इसमें आश्चर्यही क्या है? जैसे सुवर्णकी परीक्षा के लिये निघर्षणादि पूर्वोक्त चार प्रकार दिखलाये गये हैं वैसेही धर्मरत्न की परीक्षा के लिये श्रुत, शील, तप और दया दिखलाई है, जिस शास्त्र में परस्पर विरुद्ध बात न हो किन्तु युक्तियुक्त पदार्थोंकी व्याख्या हो, तथा परोपकारादि गुणों का वर्णन हो वह शास्त्र प्रामाणिक मानना चाहिए। शील याने ब्रह्मचर्य अथवा आचार के पालने की आवश्यकता को सहेतुक जानने वालाही ब्रह्मचर्यपालनेवाला गिना जाता है, और ब्रह्मचर्य पालन का मूल कारण जीवदयाही है। क्योंकि कामशास्त्रकार वात्स्यायन ने स्वशास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि स्त्री की योनि में असंख्य कीड़े उत्पन्न होते हैं इसीसे उसको पुरुषसेवन करनेकी उत्कट इच्छा होती है और जैनशास्त्रकार तो स्त्रीयोनिगत वीर्य और रुधिर में असङ्ख्य जीवकी उत्पत्ति मानते है, इसलिये गर्भज ९ लाख जीव एक वार मैथुन करने से मरजाते है और द्वीन्द्रियादि जीवों के मरनेकी

संख्या दो लाख से लेकर नौ लाख तक है और संमूर्च्छिम जीव भी असख्यात मरते है; इस पर दृष्टान्त यह है कि जैसे बांस की नली में भरी हुई रुई को तप्त लोहे की सलाई शीघ्र भस्म कर देती है वैसेही स्त्रीपुरुष के संयोग से योनिस्थ संमूर्छिम असंख्य और द्वीन्द्रियादि एक से लेकर नव लाख तक मरजाते है तथा गर्भज ९ लाख एकवार ही विषय सेवन से नष्ट होजाते है और नये नये उत्पन्न होते है; कर्मयोग से जो एक दो या तीन जीव रह जाते है वह बालकरूप से उत्पन्न होते है। मद्य, मधु (शहद) और मांस, तथा मक्खन में असङ्ख्य कीड़े उसी रंग के उत्पन्न होते है।

पूर्वोक्त बातों को निश्चय करानेवाली प्राकृतगाथाएँ यहाँ पर दी जाती है—

"तहिं पंचिंदिअ जीवा इत्थीजोणीनिवासिणो।
मणुआणं नवलक्खा सव्वे पासेई केवली" ॥ १ ॥
"इत्थीणं जोणीसु हवन्ति वेइन्दिया य जे जीवा।
इक्को य दुन्नि तिन्निवि लक्खपहुत्तं तु उक्कोसं" ॥ २॥
"पुरिसेण सह गयाए तेसिं जीवाण होइ उद्दवणं।
वेणुअ दिट्ठंतेणं तत्ताइ सिलागनाएण" ॥ ३ ॥
"इत्थीण जोणिमज्झे गब्भगयाइं हवन्ति जे जीवा।
उप्पज्जन्ति चयन्ति य समुच्छिमा असंखया भणिया" ॥४॥
"मेहुणसंनारूढो नवलक्ख हणेइ सुहुमजीवाणं।
तित्थयरेणं भणियं सद्दहिअव्वं पयत्तेणं" ॥ ५ ॥
"मज्जे महुम्मि मंसम्मि नवणीयम्मि चउत्थए।
उप्पज्जन्ति असंखा तव्वन्ना तत्थ जन्तुणो" ॥ ६ ॥

पूर्वोक्त गाथाओं का भावार्थ पहिलेही लिखा जा चुका है इसलिये अब विशेष व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है।

पाठकों ने अच्छी तरह से समझ लिया होगा कि वस्तुतः ब्रह्मचर्य अहिंसा पालन के लिये ही है, तथापि यदि लौकिक व्यवहार पर भी

दृष्टि दी जाय तो और भी विशेष स्पष्ट होगा। देखिये किसीकी बहिन या स्त्री पर कुदृष्टि करने से जो दुःख होता है उसका विवेचन करना असभव है और दु ख देना ही अहिंसा का स्वरूप है। अतएव ब्रह्मचर्य पालन अहिंसा के लिये है और उस ब्रह्मचर्य को ही शील कहते है। अथवा शील से सदाचार भी लिया जाता है और जिसके पालने में किसीको बाधा न हो वही सदाचार कहलाता है, अतएव सदाचार सबका उपकारक ही होता है क्योंकि उससे किसीका भी अपकार नहीं होता।

यथा-

"लोकापवादभीरुत्वं दीनाभ्युद्धरणादरः।
कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं सदाचारः प्रकीर्तितः" ॥ १ ॥

भावार्थ-प्रामाणिक लोगों के अपवाद से डरना, और दीनों के उद्धार में आदर करना, तथा आदर किये हुए गुणों को जानना तथा सुन्दर दाक्षिण्य को सदाचार कहते है, ऐसे सुन्दर आचार को ही शील कहते है; तथा जिसके आचरण से इन्द्रियों का निग्रह होता है उसे तप कहते है, अर्थात् कषायों की शान्ति और सर्वथा आहार का त्याग तप है।

यथा-

" कषायविषयाऽऽहारत्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लङ्घनकं विदुः" ॥ १ ॥

अर्थात्-क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेषादि कषाय और पञ्चेन्द्रिय के विषयों का जिसमें त्याग है उसीको उपवास कहना चाहिए, इससे अतिरिक्त तपस्या को तत्त्ववेत्ता लोग लङ्घन कहते है।

लेकिन बहुतोंको देखकर आश्चर्य होता है कि दशमी के रोज खान पान में चार आने से उनका कार्य सिद्ध होता है किन्तु एकादशी के रोज आठ आने का माल उड़ जाता है तो भी उपवास ही कहा जाता है यह क्या कोई उपवास (तप) है ? जिस

तप से कर्मों का नाश हो उसी का नाम तप है। मन, वचन और शरीर से किसी जीव की हानि नहीं करना किन्तु समस्त जीवों को अपने समान ही मानने को दया कहते है, क्योंकि जैसे अपने शरीर में फोड़ा होने से वेदना का अनुभव होता है और उसके हजारों उपचार करने का प्रयत्न किया जाता है, वैसे ही अन्य के लिये उपचार करना सर्वथा पण्डितों को उचित है क्योंकि अन्यजीवों पर जो दया नहीं करता वह कदापि पण्डित नहीं कहलाता है।

यथा—

"आत्मवत् सर्वभूतेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
मातृवत् परदारेषु यः पश्यति स पण्डितः (यः पश्यति स पश्यति)" १

भावार्थ—जो पुरुष सब प्राणियों में अपनी आत्मा के समान बर्ताव करता है और दूसरे के द्रव्य में पत्थर के समान बुद्धि करता है तथा परस्त्री को माता की तरह देखता है वही पण्डित है, अथवा वही नेत्रवाला है।

देखिये पूर्वोक्त श्लोक से यह स्पष्ट होता है कि सब प्रकार जीवों को शान्ति देनीही दया है। और पूर्वोक्त शास्त्र, शील, तप, दया जिसमें हो उसे धर्मरत्न जानना चाहिए। इससे भिन्न कोई धर्म नहीं है किन्तु इससे भिन्न जो कुछ होगा वह भद्रिक जीवों को भवभ्रमणकरानेवाला ही होगा। इसी कारण से नीतिकार श्लोकरत्नों को भूमण्डल में छोड़ करके परीक्षा करने के लिये प्रेरणा करते हैं, तथापि वर्तमान कालके मनुष्य पक्षपातरहित होकर विचार नहीं करते, किन्तु विशुद्ध और निर्मल अहिंसा धर्मका अनादर करके हिंसा करने में कुयुक्तियों का उपयोग करते है। वस्तुतः अहिंसादि सामान्य धर्म समस्त दर्शनानुयायियों को संमत है।

यथा—

"पञ्चैतानि पवित्राणि सर्वेषां धर्मचारिणाम्।
अहिंसा सत्यमस्तेयं त्यागो मैथुनवर्जनम्" ॥ १ ॥

याने अहिंसा, सत्य, चोरी का त्याग, ब्रह्मचर्य का पालन,

और सर्वथा परिग्रह याने मूर्च्छा का त्याग, ये पांच पवित्र महाव्रत समस्त दर्शनानुयायी महापुरुषों को बहुमानपूर्वक माननीय है, अर्थात् संन्यासी, स्नातक, नीलपट, वेदान्ती, मीमांसक, साङ्ख्यवेत्ता, बौद्ध, शाक्त, शैव, पाशुपत, कालामुखी, जङ्गम, कापालिक, शाम्भव, भागवत, नग्नव्रत, जटिल आदि आधुनिक तथा प्राचीन समस्त मतवालों ने यम, नियम, व्रत, महाव्रतादि के नाम से मान दिया है और देते भी है। तथा इस विषय में पुराणों की साक्षी भी इस तरह देते है–

महाभारतीय शान्तिपर्व के प्रथम पाद में लिखा है कि–

"सर्वे वेदा न तत् कुर्युः सर्वे यज्ञाश्च भारत ! ।
सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च, यत् कुर्यात् प्राणिनां दया" ॥१॥

भावार्थ—हे अर्जुन ! जो प्राणियों की दया फल देती है वह फल चारो वेद नहीं देते और न समस्त यज्ञ देते है तथा सर्वतीर्थों के स्नान वन्दन भी वह फल नहीं दे सकते है।

और यह भी कहा है–

"अहिंसालक्षणो धर्मो ह्यधर्मः प्राणिनां वधः ।
तस्माद् धर्मार्थिभिर्लोकैः कर्तव्या प्राणिनां दया" ॥१॥

अर्थात् दया ही धर्म है और प्राणियों का वध ही अधर्म है, इस कारण से धार्मिक पुरुषों को सर्वदा दया ही करनी चाहिए। क्योंकि विष्ठा के कीडे से लेकर इन्द्र तक सबको जीविताशा और मरणभय समान है। और भी देखिये–

"अमेध्यमध्ये कीटस्य सुरेन्द्रस्य सुरालये ।
समाना जीविताऽऽकाङ्क्षा तुल्यं मृत्युभयं द्वयोः" ॥१॥

इसका भावार्थ स्पष्ट ही है।

अब जैनशास्त्र के प्रमाण से दशवैकालिक का यथार्थ वचन दिखलाया जाता है–

"सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं ।

तम्हा पाणिवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं" ॥१॥

भावार्थ—समस्त जीव जीने ही की इच्छा करते है किन्तु मरने की कोई भी इच्छा नहीं करता, अतएव प्राणियों का वध घोर पापरूप होने से साधुलोग उसका निषेध (त्याग) करते है । इस वातको दृढ़ कराते हुए तत्त्ववेत्ता कहते है कि—

"दीयते म्रियमाणस्य कोटिर्जीवित एव वा ।
धनकोटिं परित्यज्य जीवो जीवितुमिच्छति" ॥१॥

अर्थात्—अगर मरते हुए जीव को कोई आदमी करोड़ अशर्फी दे और कोई मनुष्य केवल जीवन दे तो अशर्फियों की लालच को छोड़ वह जीवन की ही इच्छा करेगा क्योंकि स्वभाव से जीवों को प्राणों से प्यारी और कोई वस्तु नहीं है । इस वात को विशेष दृढ़ करने के लिये यह दृष्टान्त है—

एक समय राजसभा में वुद्धिमान पुरुषों ने परस्पर विचार करके यह निश्चय किया कि प्राण से बढ़कर कोई चीज नहीं है, इस वात को सुनकर राजा ने परीक्षा करने के लिये चार पुरुषों को वुलाया और हर एक के हाथ में तेल से भरा हुआ कटोरा देकर आज्ञा दी कि तुम सबलोग कटोरे को ले करके शहर के किले की चारों तरफ प्रदक्षिणा करो किन्तु पात्र से रास्ते में एक भी बूँद तेल का न गिरे अगर गिरेगा तो पहिले को दसहजार अशर्फियों का दण्ड होगा, और दूसरे को पचास हजार, तथा तीसरे को लाख और चौथे को कहा गया कि तुह्मारी जान ही लेली जायगी । इस राजा की आज्ञा के वशीभूत होकर चारो आदमी चले, किन्तु कटोरों के भरपूर होने से कुछ न कुछ गिरने का सम्भव था ही, इसलिये वे लोग धीरे २ बहुत ही सम्हाल कर चले किन्तु वैसा करने पर भी पहिले और दूसरे से आधी दूर पहुँचने पर कितनी ही बूँदें गिरीं, तीसरे से अन्त में जाकर कुछ बूँदें गिरीं, लेकिन जिससे यह कहा गया था कि तुह्मारी जान ही लेली जायगी उससे तो एक बूँद भी नहीं

गिरी। क्योंकि उसने मन, वचन और काया की एकाग्रता से काम किया था, अर्थात् जैसा भरा पुरा कटोरा उसने राजा के पास से उठाया था वैसा ही पहुँचा दिया। इसलिये राजा देखकर चाकित हुआ कि अहो! देव से भी दुर्लभ कार्य जीविताशा से हो सकता है। इसलिये निश्चय से जीविताशा को नाश करनेवाले पुरुष महापापी है, और अभयदान देनेवाला महादानी शास्त्र में कहा गया है—

यथा—

"महतामपि दानानां कालेन हीयते फलम्।
भीताभयप्रदानस्य क्षय एव न विद्यते" ॥ १ ॥

"कपिलानां सहस्राणि यो विप्रेभ्यः प्रयच्छति।
एकस्य जीवितं दद्याद् न च तुल्यं युधिष्ठिर!" ॥२॥

"दत्तमिष्टं तपस्तप्तं तीर्थसेवा तथा श्रुतम्।
सर्वेऽप्यभयदानस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्" ॥ ३ ॥

"नातो भूयस्तपो धर्मः कश्चिदन्योऽस्ति भूतले।
प्राणिनां भयभीतानामभयं यत् प्रदीयते" ॥ ४ ॥

"वरमेकस्य सत्त्वस्य दत्ता ह्यभयदक्षिणा।
न तु विप्रसहस्रेभ्यो गोसहस्रमलङ्कृतम्" ॥५॥

"हेमधेनुधरादीनां दातारः सुलभा भुवि।
दुर्लभः पुरुषो लोके यः प्राणिष्वभयप्रदः" ॥६॥

"यथा मे न प्रियो मृत्युः सर्वेषां प्राणिनां तथा।
तस्माद् मृत्युभयान्नित्यं त्रातव्याः प्राणिनो बुधैः" ॥७॥

"एकतः क्रतवः सर्वे समग्रवरदक्षिणाः।
एकतो भयभीतस्य प्राणिनः प्राणरक्षणम्" ॥ ८ ॥

"एकतः काञ्चनो मेरुर्बहुरत्ना वसुन्धरा।
एकतो भयभीतस्य प्राणिणः प्राणरक्षणम्" ॥ ९ ॥

भावार्थ—बड़े से भी बडे दान का फल कुछ काल में क्षीण हो जाता है, किन्तु डरे हुए प्राणी को अभय देने से जो फल उत्पन्न होता

है उसका क्षय नहीं होता, अर्थात् अभयदान से मोक्ष होता है। १

ब्राह्मणों को हजारों कपिला गौएँ दी जावें और यदि केवल एक जीव को भी अभयदान दिया जाय तो बराबर ही फल नहीं है बल्कि अभयदान का फल अधिक है। २

इष्ट वस्तु के दान से, तपस्या करने से, तीर्थसेवा से या शास्त्र के पढ़ने से, जो पुण्य होता है वह पुण्य अभयदान के सोलहवें भाग के सदृश भी नहीं है। ३

भयभीत प्राणी को जो अभयदान दिया जाता है उससे बढ़कर पृथ्वी पर तप अधिक नहीं है अर्थात् सर्वोत्तम अभयदान ही है। ४

एक जीव को अभयदान रूप दक्षिणा देनी श्रेष्ठ है, किन्तु भूषित भी हजारों गौओं का दान देना वैसा श्रेष्ठ नहीं है। ५

हेम (सुवर्ण), धेनु (गौ) तथा पृथ्वी के दाता संसार में अनेक हैं किन्तु प्राणियों को अभय देने वाले जगत् में दुर्लभ है। ६

हे अर्जुन ! जैसे मुझे मृत्यु प्रिय नहीं है वैसे ही प्राणिमात्र को मृत्यु अच्छी नहीं लगती अतएव मृत्यु के भय से प्राणियों की रक्षा करनी चाहिए। ७

एक तरफ समग्रदक्षिणावाली यज्ञ और दूसरी तरफ भयभीत प्राणी की प्राणरक्षाकरना बराबर है। ८

तथा एक तरफ सुवर्ण का सुमेरुदान, तथा बहु रत्नवाली पृथ्वी का दान रक्खा जाय और एक तरफ केवल प्राणी की रक्षा रक्खी जावै तो समान ही है। ९

विवेचन—पूर्वोक्त श्लोक जो पुराणों के है पाठकों ने उनको देखा होगा कि इनमें अभयदान की ही प्रशसा की है, जैनशास्त्र में तो अभयदान को मोक्ष का कारण माना है। उसी रीति से पुराणों में भी लिखा है, तथापि कितने ही लोग शास्त्रमोहित होकर अभयदान की महिमा को नहीं समझते। यहाँ पर प्रथम श्लोक सब दानों में अभय दानको ही श्रेष्ठ बतलाता है और अभयदान देनेमें द्रव्यका भी

कुछ खर्च नहीं पड़ता है, केवल मन में दयाभाव रखकर छोटे बडे सभी जीवों की यथाशक्ति रक्षा तथा क्रूरता का सर्वथा त्याग करना चाहिये, और अपने सुख के लिये अन्य जीवोंका प्राण लेना किसीको उचित नहीं है, इसीसे लिखा हुआ है कि–

"न गोप्रदानं न महीप्रदानं नाऽन्नप्रदानं हि तथा प्रधानम् ।
यथा वदन्तीह बुधाः प्रधानं सर्वप्रदानेष्वभयप्रदानम्" ॥२९८॥

पृ ७७ पञ्चतन्त्र ।

अर्थात् विद्वान् लोग संपूर्ण दानों में जैसा अभयदान को उत्तम मानते है वैसा गोदान, पृथ्वीदान और अन्नदान आदि किसी को भी प्रधान नहीं मानते हैं ।

कितने ही अज्ञानी जीव विना विचारे ही मच्छर, डाँस खटमल, जूँआ, वगैरह छोटे २ जीवों को स्वभाव से ही मार डालते है, और बहुत से तो घोड़े के वाल की मूरछल से, या हाथ से, या घर में धूआँ करके, या गरम जल से खटमल आदि जीवों को मारते है, परन्तु यदि कोई उनको समझावे तो वे ऊटपटांग जवाब देकर अपना बचाव करने का यत्न करते है, लेकिन वस्तुतः वैसे जीवों के मारने से भी बहुत पाप होता है। इस विषय को दृढ़ करानेवाला वाराह पुराण का श्लोक देखिये–

" जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजानि कदाचन ।
ये न हिंसन्ति भूतानि शुद्धात्मानो दयापराः" ॥ ८ ॥

१३२ अ ५३२ पृ.

भावार्थ–मनुष्य, गौ, भैस बकरी वगैरह और अण्डज अर्थात् सब प्रकार के पक्षी, उद्भिज्ज याने वनस्पति, और स्वेदज याने खटमल, मच्छर, डास, जूआँ, लीख वगैरह समस्त जन्तुओं की जो पुरुष हिंसा नहीं करते है वेही शुद्धात्मा, और दयापरायण सर्वोत्तम है ।

विवेचन–पूर्वोक्त श्लोक से स्पष्ट हुआ कि समस्त जीवों की रक्षा करनी चाहिये, याने किसी जीव को किसी प्रकार से भी मारना उचित नहीं है।

खटमल, मच्छर, मच्छी, जूआँ वगैरह पहिले तो मनुष्य के पसीने और गन्दगी से पैदा होते है, किन्तु पीछे वे अपने २ पूर्वजों के खून से उत्पन्न होते है । परन्तु जहां कहीं वैसे जीव मरते है वहां पर पहिले से दूने बल्कि चौगुने उत्पन्न होते है अत एव उनको मारना लाभदायक न होकर हानिकारकही है; यद्यपि वे जीव अपना२ काल पूरा करके स्वयं मरेंगे तथापि उनको मारना नहीं चाहिये क्योंकि अभयदान जैसा उत्तम है वैसा कोई भी उत्तम धर्म नहीं है यह बात पूर्वोक्त श्लोकसे स्पष्ट हो ही चुकी है । इसलिये जब कोई जीव अपने शरीर पर बैठे तो उसे कपड़े से सहज में हटादेना चाहिए; और जमीन को भी जहाँ तक बनसके देख देख कर चलना चाहिए जिससे कोई जीव मरने न पावे। यदि किसी को द्रव्य कुछ भी खर्च न करके धर्म करने की इच्छा हो तो उसके लिये अहिंसा धर्म के सिवाय कोई दूसरा धर्म नहीं है। इसीसे श्रीमद्भगवद्गीता में भी दैवीसम्पत् और आसुरीसंपत् जो दिखलाई गई हैं, उनमें दैवीसम्पत् तो मोक्ष को देनेवाली है, और आसुरीसम्पत् केवल दुर्गति का कारण है । और दैवीसंपत् में भी केवल अभयदान को ही मुख्य रक्खा है।

यथा–

" अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् " ॥ १ ॥
" अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् " ॥ २ ॥
" तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नाऽतिमानता ।

भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ! " ॥ ३ ॥

गीता अ० १६

भावार्थ–अभय याने भयका अभाव १, सत्त्वसंशुद्धि चित्तसंशुद्धि, अर्थात् चित्तप्रसन्नता २, आत्मज्ञान प्राप्त करने के उपाय में श्रद्धा ही ज्ञानयोगव्यवस्थिति है ३, और अपने भोगने की वस्तु में से यथोचित अभ्यागत को देने को दान कहते हैं ४, बाह्येन्द्रियों को नियम में रखना ही दम कहलाता है ५, तथा ईश्वर की पूजा रूप ही यज्ञ है क्योंकि यज्ञ का यह अर्थ भगवद्गीता के पृ. २७ कर्मयोग नामक तीसरे अध्याय में २३ वाँ श्लोक पहिलेही लिख दिया है, कि–"**यज्ञाया-चरतः कर्म**"–अर्थात् ईश्वरार्थ कर्म के स्वीकार से ।

अत एव यहां पर भी वही अर्थ घटता है, क्योंकि अन्य यज्ञ के हिंसामय होने से अभय, अहिंसा, दया तीनों वस्तु पृथक् २ दिखलाई गई हैं। यदि यहां पर हिंसामय यज्ञ का कथन होता तो दैवीसंपत् के कारण जो छब्बीस गिनाये है, उनमें परस्पर विरुद्ध भाव हो जाता, अत एव यज्ञ का अर्थ यहाँ पर ईश्वर पूजा से अति-रिक्त दूसरा नहीं हो सकता है ६, तत्त्वविद्या का पाठ ही स्वाध्याय है ७; तप तीन प्रकार का है, वह पृ. ९४ अध्याय १७ वें में कहा है कि—

"देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते " ॥१४॥
"अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते " ॥१५॥
"मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतद् तपो मानसमुच्यते " ॥१६॥

भावार्थ– देव, ब्राह्मण, गुरु और पण्डित की पूजा, शौच-अन्तःकरणशुद्धि, सरलता ब्रह्मचर्य, अहिंसारूपही शरीर का तप

कहलाता है। उद्वेग को नही करनेवाला वाक्य, सत्य, प्रिय, हितकर और स्वाध्याय तथा अभ्यास यह वाङ्मय तप है। मनकी प्रसन्नता, चन्द्रमाके तुल्य शीतलता, मौन होना, आत्मनिग्रह, और भाव की शुद्धता मानस तप कहलाता है। इस शारीरिक, मानसिक, वाचिक रूपसे तीन प्रकार का तप लिखा है ८, अवक्रता को आर्जव कहते है ९, जिसमें पर की पीडा किसी प्रकार की न हो उसे अहिंसा कहते है १०, यथार्थ भाषण को सत्य कहते हैं ११, अत्यन्त ताड़न किये जाने पर भी मन में कुछ भी व्याकुलता नहीं आना अक्रोध है १२, उदार भावसे दान देनाही त्याग है १३, मन में उत्पन्न हुए विकल्पों को दबा देनाही शांति है १४, परोक्ष में दूसरे के दोषों को नहीं कहना ही अपैशुन्य है १५, धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चार पदार्थों में से किसी पुरुषार्थ के साधन करनेकी सामर्थ्यरहित–दीन जीवों में अनुकम्पा करने को दया कहते हैं, १६, विषय में लालच के त्याग को अलोलुपता माना है १७, अक्रूरता अर्थात् सरलता को मार्दव कहते है १८, अकार्य करने में लोकलज्जा को ह्री कहते है १९, अनर्थदण्डवाली क्रियासे मुक्त होकर स्थिर भाव रखना ही अचपलता है २० दु.खावस्था में अपनी सत्ता से नहीं हटना अर्थात् गम्भीरताही तेज कहलाती है। २१, शक्ति रहने पर भी किसीसे व्यर्थ परिभवादि पाने पर क्रोध नहीं करनेको क्षमा कहते है २२, दुःखों की परम्परा आनेपर भी स्थिरता (दृढता) रखना धृति कहलाती है २३, आभ्यन्तर और बाह्य पवित्रता को शौच माना है २४, किसी की बुराई करने की इच्छा नहीं करना ही अद्रोह है २५, अहंकाररहितता को नातिमानता कहते है २६।

भावि कल्याणवान् पुरुष कोही दैवी संपत् होती है; प्रायः दम्भ, मद, अहङ्कार, क्रोध, निष्ठुरता, तथा अज्ञानादि आसुरीसंपत् नरकगामी जीवको होती है, सर्वोत्तम दैवीसंपत् दिखाई है, उसमें अभयदानादि छब्बीस गुणोंका वर्णन देखनेसे सिद्ध होता है कि कदापि हिंसा से

धर्म नहीं है। देखिये—मनुस्मृति, वाराहपुराण, कूर्मपुराणादि में तो हिंसा करनेवाले को प्रायश्चित्त दिखलाया है; इसलिये मनुष्यों को उस प्रायश्चित्त का भागी नहीं बननाही श्रेष्ठ है; क्योंकि " प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् " अर्थात् कीचड़ में पहिले पैर डालकर पीछे धोने की अपेक्षा उसमें पहिलेही से पैर नहीं डालना अच्छा है। यदि ऐसे महावाक्यों पर ध्यान दिया जाय तो कदापि प्रायश्चित्त लेने का समय ही न आवे। मनुस्मृति के ११ वें अध्याय का ४४८ वाँ पृष्ठ देखिये।

यथा—

" अभोज्यानां तु भुक्त्वाऽन्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च।
जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान् पिबेत्" ॥१५२॥

भावार्थ—जिसका अन्न खानेलायक नहीं है जैसे चमार आदि शूद्रों का अन्न खाकर, और स्त्री तथा शूद्र का जूँठा खाकर, तथा सर्वदा अभक्ष्यही याने नहीं खानेलायक मांस को खाकर शुद्ध होना अगर चाहे तो सात दिन तक यव का पानी पीना चाहिये; इत्यादि।

विवेचन—प्रायश्चित्त विधि में मांस खानेसे प्रायश्चित्त भी दिखलाया है, तो भी हिंसा से लोग क्यों नहीं डरते है? विधिविहित मांस खाने में दोष न माननेवालों को देखना चाहिये कि श्रीमद्भागवतीय चतुर्थ स्कन्ध के २५ वें अध्याय में—प्राचीनबर्हिष राजा ने नारद जी से पूछा कि मेरा मन स्थिर क्यों नहीं रहता है? तब नारदजी ने योगबल से देखकर कहा कि आपने जो प्राणियों के वधवाले बहुत से यज्ञ किये है इसीसे आपका चित्त स्थिर नहीं रहता है। ऐसा कहकर योगबल से राजा को यज्ञमें मारे हुए पशुओंका दृश्य आकाश में दिखलाया और नारदजी ने कहा कि हे राजन्! दयारहित होकर हजारों पशुओं को यज्ञ में जो तुमने मारा है वे पशु इस समय क्रुद्ध होकर यह रास्ता देख रहे है कि राजा मरकर कब आवे और

हम लोग उसको अस्त्रों से काट कर कब अपना बदला चुकावें। देखिये श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में—

"भो भोः! प्रजापते! राजन्! पशून् पश्य त्वयाऽध्वरे।
संज्ञापितान् जीवसङ्घान् निर्घृणेन सहस्रशः" ॥ ७ ॥
"एते त्वां संप्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव।
संपरेतमयैः कूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यवः" ॥ ८ ॥

इन दोनों श्लोकों का भावार्थ ऊपरही स्पष्ट हो चुका है।

इसके बाद प्राचीनबर्हिष राजा भयभीत होकर नारद के चरण पर गिर पड़ा और कहने लगा कि हे भगवन्! अब मैं हिंसा नहीं करूंगा किन्तु मेरा उद्धार कीजिये। तब नारदजी ने ईश्वरभजनादि शुभकृत्यों को बतला कर उसका उद्धार किया; यह बात श्रीमद्भागवत में लिखी है। इस स्थल में विशेष न लिखलर श्रीमद्भागवत के चतुर्थस्कन्ध को देखजाने का मै अनुरोध करता हूँ। यज्ञ में हिंसा करने का निषेध महाभारत शान्तिपर्व के मोक्षाधिकार में अध्याय २७२ पृष्ठ १५४ में लिखा है।

यथा—

"तस्य तेनानुभावेन मृगहिंसाऽऽत्मनस्तदा।
तपो महत् समुच्छिन्नं तस्माद् हिंसा न यज्ञिया" ॥१८॥
"अहिंसा सकलो धर्मोऽहिंसाधर्मस्तथा हितः।
सत्यं तेऽहं प्रवक्ष्यामि नो धर्मः सत्यवादिनाम्" ॥२०॥

भावार्थ—स्वर्ग के अनुभाव से एक मुनि ने मृग की हिंसा की, तब उस मुनि का जन्मभर का बड़ा भारी तप नष्ट होगया, अतएव हिंसा से यज्ञ भी हितकर नहीं है। वस्तुतः अहिंसा ही सकल धर्म है, और हिंस धर्म ही सच्चा हितकर है, मै तुम से सत्य कहता हूं कि सत्यवादी का हिंसा करनेका धर्म नहीं है।

विवेचन—पूर्वोक्त दोनों श्लोकों में लिखा है कि किसी मुनि के आगे मृग का रूप धर कर धर्म आया। तब उसको मुनि ने स्वर्ग के

लिये मारा, इस कारण से मुनि का सब तप नष्ट होगया, तो विचार करने की बात है कि जब ऐसे मुनि का भी तप हिंसा करने से नष्ट होगया तब बिचारे -उन लोगों का क्या हाल होगा कि जिन्होंने कभी तप का लेशमात्र भी नहीं अर्जन किया ? केवल सांसारिक सुख में लम्पट यज्ञनिमित्त हिंसा करके कौनसी गति को पावेंगे ? यही विचारलेना चाहिये ? तथा देखिये महाभारत शान्तिपर्व के मोक्षधर्माधिकार अध्याय १६५ पृष्ठ १४१ में यज्ञ का स्पष्ट ही निषेध किया है—

यथा—

"छिन्नस्थूणं वृषं दृष्ट्वा विलापं च गवां भृशम् ।
गोग्रहे यज्ञवाटस्य प्रेक्षमाणः स पार्थिवः" ॥ २ ॥
"स्वस्ति गोभ्योऽस्तु लोकेषु ततो निर्वचनं कृतम् ।
हिंसायां हि प्रवृत्तायामाशीरेषां तु कल्पिता" ॥ ३ ॥
"अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः ।
संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्तिता" ॥ ४ ॥
"सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत्
कामकाराद् विहिंसन्ति बहिर्वेद्यान् पशून्नरः" ॥ ५ ॥
"तस्मात् प्रमाणतः कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता ।
अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता" ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्रथम श्लोक में छिन्न शरीरवाले वृषभ का और गौओं का विलाप देखकर, तथा मारने के लिये यज्ञवाट में ब्राह्मणों को देख कर विचक्षणु राजा ने निर्वचन किया कि गौवों का कल्याण हो, और उसके बाद जो जो अहिंसा धर्म के नाशक हैं उनलोगों को आगे के श्लोक से आशीर्वाद दिया कि मर्यादारहित महामूर्ख नास्तिकशिरोमणि सशयवान् अव्यक्तसिद्धान्तानुयायी पुरुषों ने ही हिंसा को मान दिया है, और तुच्छ इच्छा पूरण करने के लिये पशुओं को मनुष्य मारते हैं किन्तु धर्मशास्त्र के विचार से यह उचित नहीं है, क्योंकि धर्मात्मा मनुजी सभी कर्मोंमें अहिंसाही करने को कहते हैं,

इस कारण से सूक्ष्म धर्म को प्रमाण से करना। तत्त्ववेत्ताओं ने भी सर्वभूतधर्म से अहिंसाही बड़ी मानी है।

विवेचन–राजा विचक्ष्णु क्षत्रिय होकर भी हिंसा को देख कर त्रस्त हुए, किन्तु वर्णोंके गुरु ब्राह्मणों को कुछ भी डर नहीं लगता, यह भी एक आश्चर्य ही है। कितने ही मूर्ख (गँवार) तो हिंसा करने में बड़ी बहादुरी मानते हैं, और कहते है कि हिंसा करने से हिंसकों की संख्या बढ़ती है जिससे युद्धादि कार्य में विशेष विजय होने की संभावना है, किन्तु उनलोगों की यह कल्पना निर्मूल है; क्योंकि देखिये राजा विचक्ष्णु और प्राचीनवर्हिष ने यदि हिंसा का त्याग किया और हिंसाकर्म की निन्दा भी की, तो क्या उनका राज्य नष्ट हो गया?, अथवा वे लोग लडाई में अशक्त हो गये?, या वे शत्रुवों से हार गये?, और ब्राह्मण लोग श्राद्ध में, मधुपर्क में, यज्ञ में यथेष्ट मांस खाने से क्या विजयी हुए? अथवा लड़ाई में सफलता प्राप्त की? मै तो यही कहता हू कि वे लोग पेट को वढाकर दरिद्र हो जायेंगे और दरिद्र होकर फिर कुछ भी सिद्ध नहीं करसकेंगे। राजाने हिंसा करने वाले ब्राह्मणों को आशीर्वाद कैसा दिया? यह बात चतुर्थ श्लोक के अक्षरार्थ से ऊपर ही कही हुई है किन्तु मै उसको कुछ विस्तार करनेका भी प्रयत्न करता हू–

हिंसाकर्म से भिन्न कर्म को मर्यादा कहते है–उसको स्थिर याने व्यवस्थित नहीं रखनेवाले ही अव्यवस्थितमर्यादावाले पुरुष कहे जाते है, उसका कारण केवल मूर्खता ही है, अत एव दूसरा विशेषण 'विमूढैः' दिया है, किन्तु यह भी विना कारण नहीं कहा जासकता, इसलिये 'नास्तिकै' यह विशेषण दिया है। धर्म-श्रद्धारहित पुरुष को नास्तिक कहते हैं, अत एव 'सशयात्मभिः' यह भी विशेषण दिया है और सशयशील वही पुरुष है जो आत्मा और देह में कभी अभेद बुद्धि और कभी भेद बुद्धि करता हो। तथा आत्मा यदि भिन्न है तो कर्ता है या अकर्ता, और यदि कर्ता है तो वह एक है या

अनेक, तथा यदि एक है तो सङ्गवान् है या असङ्ग, इत्यादि संशय-वाले के लिये ही "संशयात्मभि." यह कहागया है, और 'अव्यक्तै' यह जो विशेषण दिया है उसका तात्पर्य यह है कि यज्ञादि कर्मों से ही अपनी ख्याति (प्रसिद्धि) चाहनेवाला पुरुष हिंसा को श्रेष्ठ मानता है।

स्पष्ट रूप से ऐसे श्लोकों के रहने पर भी लोग हिंसाकरना वन्द नहीं करते, यह वडा ही आश्चर्य है, अथवा इन्हें महामोह के पाश में फँसा हुआ समझना चाहिये। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि यज्ञ के उद्देश से भी कदापि मास खाना उचित नहीं है।

यही वात महाभारत शान्तिपर्व के २६५ वें अध्याय में भी लिखीहै कि–

"यदि यज्ञांश्च वृक्षांश्च यूपांश्चोद्दिश्य मानवाः।
वृथा मांसं न खादन्ति, नैष धर्मः प्रशस्यते" ॥ ८ ॥

भावार्थ– यज्ञपरायण जो मनुष्य [केवल यज्ञों का, वृक्षों का और यज्ञस्तम्भों का उद्देश्य करके मांस खाने को छोड़ कर) वृथा मांस नहीं खाते, यह धर्म भी प्रशस्त नहीं है, अर्थात् विधिविहित मास का खाना भी उचित नहीं है। तथा हिंसा का निषेध भी इसी अध्याय में दिखलाया है।

यथा–

"सुरां मत्स्यान् मधु मांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतद् नैतद् वेदेषु कल्पितम्" ॥ ९ ॥

भावार्थ– मदिरापान, मत्स्यादन, मधु-मांसभोजन, आसव याने मद्य का पान, और तिलमिश्रित भात का भोजन, ये सव धूर्तों से ही कल्पित हुआ है किन्तु वेदकल्पित नहीं है।

विवेचन–व्यासर्षि ने स्वय यह कहा कि वेद में हिंसा नहीं है और यदि है तो धूर्तों ने ही अर्थ का अनर्थ कर डाला है, यह वात इसी नवम श्लोक से स्पष्ट होती है। फिर भी हिंसा करनेवाले पुरुषों ने क्यों सव जगह वलिदान की वहुत महिमा वढाई है? और वे केवल यज्ञ में ही